हिंदी का सरल भाषा-विज्ञान

गोपाललाल खन्ना, एम० ए०,

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

हिंदी का सरल भाषा-विज्ञान

लेखक

गोपाललाल खन्ना, एम० ए०

प्रकाशक

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

बनारस।

प्रथम संस्करण] संवत् २००४ [मूल्य २)

भूमिका

बारह वर्ष पहले की बात है। सन् १६३५–३६ में जब मैं हिंदू विश्वविद्यालय में एम० ए० का विद्यार्थी था, तब स्वर्गीय पूज्य पिताजी का भाषा-रहस्य (प्रथम खंड) प्रकाशित हुआ था। बाबूजी की की उत्कट अभिलाषा थी कि इसका दूसरा खंड भी निकल जाय, परंतु अनेक वर्षों के परिश्रम के उपरांत भी वह कार्य पूरा न हो सका और भाषा-विज्ञान पर सर्वांग-संपूर्ण ग्रंथ की अपेक्षा ही रही। तदुपरांत भाषा-रहस्य के द्वितीय खंड की शेषांश सामग्री के आधार पर उनके पूर्व प्रकाशित भाषा-विज्ञान नामक ग्रंथ का परिवर्तन किया गया और इस प्रकार भाषा-रहस्य के द्वितीय खंड की कमी को पूरा किया गया। उन दिनों युनिवर्सिटी से लौटते समय प्रायः बाबूजी और आचार्य केशवप्रसाद जी मिश्र में भाषा-विज्ञान संबंधी विषयों पर विवाद एवं विचार-विनिमय हुआ करता था। बाबूजी ने यह टिप्पणी की थी कि स्वीट की प्राइमर बड़ी सुंदर पुस्तक है। इसी प्रकार की एक पुस्तक हिंदी की भी होनी चाहिए। पंडितजी ने समर्थन करते हुए कहा कि हाँ, विद्यार्थियों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। और ऐसी पुस्तक तैयार करने का भार मुझ पर डाला गया। गुरुजनों की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए मैंने कार्यारंभ के लिये परीक्षा के समाप्त होने तक की अवधि माँगी।

धीरे-धीरे समय अबाध गति से व्यतीत होता रहा और दो वर्ष बाद मैं लखनऊ चला गया। सन् १९४३–४५ के लगभग प्रयाग विश्वविद्यालय तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के बी० ए० के पाठ्य-क्रम में भाषा और लिपि का विषय स्वीकार किया गया। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालुजी गुप्त ने इस विषय की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। मुझे तत्काल ही अपनी प्रतिज्ञा स्मरण हो आई और मैंने उनसे पाठ्य-क्रम लेकर बाबूजी के पास विचारार्थ भेज दिया। प्रयाग विश्वविद्यालय का पाठ्य-क्रम भी मँगवाया। दोनों पाठ्य-क्रमों के अंतर को ध्यान में रखकर पुस्तक की रूपरेखा तैयार करके बाबूजी को दिखलाई। उन्होंने यत्र-तत्र संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन करके पुस्तक लिखने का आदेश प्रदान किया। सन् ४५ की गर्मी की छुट्टियों में यह पुस्तक तैयार हो गई थी, परंतु प्रेस में न जा सकी। कुछ संशोधन बाकी थे। पुस्तक बहुत बड़ी हो गई थी। अतः कुछ काट-छाँट की आवश्यकता रही। वह भी जुलाई से पहले ही समाप्त कर दी गई थी। बाबूजी को आशा थी कि यह पुस्तक इंडियन प्रेस से प्रकाशित हो जायगी। उनकी वह आशा पूरी न होने पाई कि उन्होंने संसार त्याग किया। उनकी आशा मेरी निराशा में बदल गई। अस्तु।

स्नेही गुरुजन तथा गुरु-भाई लोग यदा-कदा पूछा करते थे कि आजकल क्या लिख-पढ़ रहे हो। एक बार इस पुस्तक की चर्चा हुई। पंडित रामनारायणजी मिश्र, रायकृष्णदासजी, बाबू

रामचंद्र वर्मा तथा पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की कृपा, संमति तथा सहयोग से इस पुस्तक के प्रकाशन की स्वीकृति सभा ने प्रदान की। प्रेस और कागज की कठिनाई का सामना करते हुए इस पुस्तक को छपने में लगभग एक वर्ष लग गया। तब कहीं आकर यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

इस पुस्तक के निर्माण में बाबूजी की तीन पुस्तकों, भाषा-रहस्य, भाषा-विज्ञान तथा हिंदी-भाषा का संपूर्ण उपयोग किया गया है। यह उद्योग किया गया है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को हिंदी भाषा और लिपि संबंधी भाषा-शास्त्रीय संपूर्ण परिचय प्राप्त हो सके। क्लिष्ट और विवादास्पद विषयों को यथासंभव छोड़ दिया है। ध्वनि-विचार में ध्वनि-विकार का अत्यंत संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस विषय के विशेष अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान तथा भाषा-रहस्य देखना होगा। अंत में भारतीय लिपियों के विकास तथा देवनागरी लिपि की उत्पत्ति पर एक नवीन अध्याय जोड़ दिया गया है। आशा है, ये सब अध्याय भाषा-विज्ञान के प्रारंभिक विद्यार्थी के लिये उपयोगी तथा भाषा-विज्ञान के अध्ययन में विशेष सहायक सिद्ध होंगे।

इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़कर, अपनी संमति देकर तथा उपयुक्त संशोधन करके मेरे गुरुभाई पंडित विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने मेरी अमूल्य सहायता की है। इसके लिये मैं उनका परम कृतज्ञ हूँ।

आचार्य पंडित केशवप्रसादजी मिश्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट

करना मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात है। क्योंकि हम लोगों को सदा गुरुजनों के आशीर्वाद की अपेक्षा रहेगी। दूसरी बात यह भी है कि पुस्तक उन्हीं की प्रेरणा का फल है। मुझपर उनका ऋण-भार अनंत है। उनके आशीर्वाद की ही कामना है।

अंत में गुरुजनों तथा गुरुभाइयों से सविनय निवेदन है कि इस पुस्तक की त्रुटियों को दूर करने के लिये अपनी बहुमूल्य संमति प्रदान कर मेरी सहायता करने की कृपा तथा उदारता दिखलावें।

गोपाललाल खन्ना

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

दूसरा अध्याय

भाषा और भाषण

तीसरा अध्याय

भाषाओं का वर्गीकरण

वाक्य से भाषण का आरंभ, वाक्यों के चार भेद—१ समास-प्रधान वाक्य, २ व्यास-प्रधान वाक्य, ३ प्रत्यय-प्रधान वाक्य, ४ विभक्ति-प्रधान वाक्य, शब्दों के भेद, विकास की अवस्थाएँ, भाषा-चक्र—१ भाषाओं का रूपात्मक वर्गीकरण—व्यास-प्रधान, समास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान, विभक्ति-प्रधान, हिंदी का स्थान, २ वंशानुक्रम वर्गीकरण, भाषा में निरंतर परिवर्तन, विभेद में एकता, वंशानुसार भाषाओं का वर्गीकरण, अमेरिका खंड, प्रशांत महासागर खंड और अफ्रीका खंड, यूरेशिया खंड—(१) वैविध समुदाय, (२) यूराल-अल्ताई परिवार, (३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार, (४) द्रविड़ परिवार, (५) काकेशस परिवार, (६) सेमेटिक परिवार, (७) योरोपीय परिवार, केंटुम (शतम) वर्ग, केल्टिक शाखा, इटाली शाखा, इटाली भाषा, इटाली और संस्कृत ग्रीक भाषा, ग्रीक और संस्कृत, हित्ताइट भाषा, तुखारी भाषा, एल्बेनियन शाखा, लैटो-स्लाविक शाखा, असीरियन शाखा, आर्य शाखा, अन्य विभाषाएँ अवेस्ता का संक्षिप्त परिचय, भारतवर्ष की भाषाएँ, मुंडा, भारोपीय भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव, एकाक्षर अथवा चीनी परिवार, स्याम चीनी स्कंध, तिब्बत-बर्मी, आसाम-बर्मी शाखा, द्राविड़ परिवार, मध्यवर्ती वर्ग, ब्राहुई वर्ग, आंध्र वर्ग, द्रविड़ वर्ग, मलयालम, कन्नड़, द्राविड़ परिवार के सामान्य लक्षण, आर्य परिवार, वर्गीकरण, हिंदी, हिंदी शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ, हिंदी का शास्त्रीय अर्थ, खड़ी बोली, हिंदी-उर्दू, हिंदुस्तानी, बाँगड़ू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुँदेली, मध्यवर्ती

चौथा अध्याय

हिंदी का शास्त्रीय विकास

पाँचवाँ अध्याय

हिंदी का ऐतिहासिक विकास

छठा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

सातवाँ अध्याय

साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ

आठवाँ अध्याय

भारतीय लिपियों का विकास

नवाँ अध्याय

प्रागैतिहासिक खोज

हिंदी का

सरल भाषा-विज्ञान

—o—

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भाषा-विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिससे भाषामात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है। मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोली का किस प्रकार विकास होता है, उसकी बोली और भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन-किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप और का और हो जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित या विकसित होकर पूर्णतया स्वतंत्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है, इन विषयों तथा इनसे संबंध रखनेवाले और सब उपविषयों का भाषा-विज्ञान में समावेश होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति, रूप-विकास तथा वाक्यों की बनावट आदि सभी पर विचार किया जाता है। सारांश यह कि

शास्त्र की परिभाषा

भाषा-विज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं।

शास्त्र का महत्त्व

भाषा-विज्ञान भाषा और वाणी विषयक सहज कुतूहल को शांत करता है। यह भाषा की आत्मकथा है। शब्दों की राम-कहानी है। जिसकी आँखें खुल गई हैं और जिसने इसके रस का एक बार भी आस्वादन कर लिया है, उसे इसमें वैसा ही काव्यानंद मिलता है जैसा कि एक साहित्यिक को काव्य के अनुशीलन में रस मिलता है। उदाहरण के लिये वाजपेयी जी 'बाँसबेइल महराज', बैनरजी महाशय 'बंदरजी' कैसे हो गए, हिंस्र 'सिंह' कैसे बन बैठा आदि प्रश्न किसको उत्सुक न बना देंगे। एक ही भद्र पिता के 'भला' और 'भद्दा' दो विरुद्ध स्वभाववाले बेटों को देखकर कौन आश्चर्य नहीं करेगा। उपाध्याय का घिसा रूप 'झा' देखकर किसको तरस न आयगा। इन सब प्रश्नों का उत्तर भाषा-विज्ञान ही देता है, जिस प्रकार शब्दों के भिन्न भिन्न रूपों और अर्थों पर यह शास्त्र विचार करता है, उसी प्रकार भाषा के उद्भव, विकास और ह्रास की भी मनोरम कहानी सुनाने के लिये यह उत्सुक रहता है। कोई भाषा क्यों बाँझ रहती है और कोई क्यों संतानवती होकर प्रजाहित पालन में तत्पर हो जाती है, आदि विषय किस सहृदय को अनुरंजित नहीं करते।

भाषा-विज्ञान के अंग

विषय की दृष्टि से भाषा-विज्ञान के तीन अंग होते हैं—ध्वनि, रूप और अर्थ। और इन्हीं तीनों अंगों के विवेचन की दृष्टि से ध्वनि-विचार, ध्वनि-शिक्षा, रूप-विचार, वाक्य-विचार, अर्थ-विचार और प्राचीन-शोध भाषा-विज्ञान के प्रधान अंग हैं। ध्वनि-विचार अथवा ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि के परिवर्तनों का तात्त्विक विवेचन

तथा ध्वनि-विकारों का इतिहास आदि सभी बातें आ जाती हैं। पर ध्वनि-शिक्षा का संबंध साक्षात् ध्वनियों के उच्चारण और विवेचन से रहता है। पुराने भाषा-शास्त्री ध्वनि का ऐतिहासिक तथा तात्त्विक विवेचन किया करते थे, पर आधुनिक वैज्ञानिक ध्वनि-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देते हैं। रूप-विचार, प्रकृति-प्रत्यय आदि भाषा का रूपात्मक विवेचन करता है। इसका प्रधान आधार व्याकरण है। वाक्य विचार भी व्याकरण से संबंध रखता है, पर इसके ऐतिहासिक अध्ययन के लिये कई भाषाओं और साहित्यों का विशेष अभ्यास आवश्यक है, इसीसे भाषा-विज्ञान का यह अंग अधिक उन्नत नहीं हो सका। अर्थ-विचार के अंतर्गत ये दो बातें आती हैं, व्युत्पत्ति-विचार और भाषा के बौद्ध नियमों की मीमांसा। आज व्युत्पत्ति-विचार अथवा निर्वचन एक शास्त्र बन गया है। ऐतिहासिक और ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विचारों ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है। भाषा के बौद्ध नियमों का अनुशीलन भी अब एक सुंदर विषय बन गया है। किस प्रकार शब्द अर्थ को छोड़ता और अपनाता है और किस प्रकार अर्थ शब्द का त्याग और ग्रहण करता है तथा इन अर्थों का संकोच या विस्तार होता है, इन सब बातों का अब स्वतंत्र विवेचन होने लगा है। इसी विषय को कुछ लोग अर्थातिशय का नाम भी देते हैं। इस अर्थ-विचार अर्थात् व्युत्पत्ति-शास्त्र तथा अर्थातिशय के आधार पर भाषा द्वारा प्राचीन इतिहास और संस्कृति की कल्पना की जाती है। ऐसी भाषामूलक प्राचीन खोज भाषा-विज्ञान का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग हो गई है। इन सब अंगों का विशेषज्ञों द्वारा पृथक् पृथक् अध्ययन किया जाता है। पर शास्त्र के सामान्य परिचय के लिये इन सब का साधारण ज्ञान अनिवार्य है।

भाषा-विज्ञान की गणना कला में की जाय या विज्ञान में?

कला के अंतर्गत केवल मनुष्य की कृतियाँ ही आती हैं, जैसे चित्रकला, मूर्त्तिकला, काव्यकला आदि। विज्ञान उसे कहते हैं जिसमें ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है, जैसे भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीवन-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि। यह विज्ञान है, कला नहीं है; क्योंकि भाषा भी वास्तव में एक ईश्वरदत्त शक्ति है और उसका आरंभ तथा विकास आदि भी प्राकृतिक रूप में ही होता है, मनुष्य अपनी शक्ति से और जान-बूझकर कदाचित् ही उसमें कोई परिवर्तन कर सकता है। यदि परिवर्तन होता भी है तो वह प्रायः नहीं के बराबर होता है, और दूसरे जो कुछ होता है, वह व्यक्तिगत प्रयत्न से नहीं वरन् सामूहिक या सामाजिक रूप से होता है; और जो काम सामूहिक या सामाजिक रूप से हो, वह प्रायः प्राकृतिक के समान ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान में विज्ञान के और भी लक्षण पाए जाते हैं। इन्हीं कारणों से इसकी गणना कला में नहीं, विज्ञान में होती है।

भाषा-विज्ञान कला है या विज्ञान

भाषा-विज्ञान और व्याकरण का घनिष्ठ संबंध है। व्याकरण एक कला है और भाषा विज्ञान एक विज्ञान। व्याकरण भाषा में साधुता और असाधुता का विचार करता है, और भाषा-विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। व्याकरण दो प्रकार का होता है—वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक। वर्णनात्मक-व्याकरण लक्ष्यों का व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करता है और सामान्य नियमों का निर्माण करता है। व्याख्यात्मक व्याकरण इसका भाष्य करता है। यह भाषामात्र की प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है। इसके भी तीन अंग होते हैं—ऐतिहासिक, तुलनात्मक और सामान्य व्याकरण।

भाषा-विज्ञान और व्याकरण

ऐतिहासिक व्याकरण भाषा के कार्यों को समझाने के लिये उसी भाषा में या उसकी पूर्ववर्ती भाषा में उसके कारणों के ढूँढ़ने की चेष्टा करता है, तुलनात्मक व्याकरण उसके कार्यों की व्याख्या के लिये उस भाषा को समकालीन या उसको पूर्वज सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है और सामान्य व्याकरण सभी भाषाओं के भाषामात्र के मौलिक सिद्धांतों तथा तत्त्वों की मीमांसा करता है। यद्यपि यह सत्य है कि व्याख्यात्मक-व्याकरण वर्णनात्मक-व्याकरण के आधार पर ही काम करता है तथापि भाषा-विज्ञान ने व्याकरण की व्याख्या को अपने अंतर्गत कर लिया है, और उसका आधार भी वर्णनात्मक-व्याकरण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त और भी ऐसे शास्त्र या विज्ञान हैं, जिनके साथ भाषा-विज्ञान का साधारण या घनिष्ठ संबंध है। भाषा की

भाषा-विज्ञान और अन्य-शास्त्र

सृष्टि विचारों से होती है। पहले मन में किसी प्रकार का विचार उत्पन्न होता है और तब उस विचार के अनुकूल भाषा का सृजन होता है। भाषा वास्तव में विचाररूपी साध्य का साधन है। विचारों का संबंध मन या मस्तिष्क से है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित होता है। शब्दों के अर्थ आदि में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण और स्वरूप आदि के समझने के लिये भाषा-विज्ञान में मनोविज्ञान का आश्रय लिया जाता है।

साहित्य से भी भाषा-विज्ञान का कम घनिष्ठ संबंध नहीं है। भाषा-विज्ञान-संबंधी अधिकांश नियमों और सिद्धांतों की रचना साहित्य के ही सहारे होती है, क्योंकि भाषा और रूप के परिवर्तन का ज्ञान करानेवाली समस्त सामग्री साहित्य में रक्षित

रहती है। यदि साहित्य इन सब बातों को रक्षित न रखे तो भाषा-विज्ञान का कार्य कठिन हो जाय। साहित्य-संपन्न भाषाएँ साहित्य द्वारा रक्षित होकर अमर हो सकती हैं। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तो तुलनात्मक भाषाओं का ही हो सकता है। जो बोलियाँ साहित्य हीन हैं, जिसके अतीत का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं, उनके इतिहास की चर्चा कैसे हो सकती है। यदि हमारे पास हमारे देश का क्रमबद्ध प्राचीन साहित्य न हो तो हमारा भाषा-विज्ञान कुछ रह ही न जाय, भिन्न शब्दों और उनके रूपों में क्या और कैसे परिवर्तन हुए, इसका ज्ञान केवल साहित्य से ही हो सकता है।

भाषा-विज्ञान के ज्ञाता के लिये ऐसे साहित्य और भाषा का अध्ययन भी सुगम हो जाता है जो अत्यंत प्राचीन हो अथवा जिससे उसका कभी किसी प्रकार का संबंध न रहा हो। भाषा विज्ञान के विद्यार्थी के लिये वे भाषाएँ सहज और सरल हो जाती हैं। हिंदी भाषा के विकास के जिज्ञासु को हिंदी की पूर्वज अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं के साहित्य से परिचय प्राप्त करना पड़ता है और वह एक भाषा की अपेक्षा अनेक भाषाओं का कोविद स्वयं हो जाता है तथा अनेक साहित्यों से उसका परिचय हो जाता है।

एक और विज्ञान है जो भाषा-विज्ञान का प्रधान आधार है। वह मानव-विज्ञान है जिसमें इस विषय का विवेचन होता है कि मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक या आरंभिक अवस्था से किस प्रकार उन्नति करके अपनी वर्तमान उन्नत और सभ्य अवस्था प्राप्त की है। मनुष्यों में दो अंश होते हैं। एक अंश तो स्वाभाविक या प्राकृतिक है और इच्छा, राग, द्वेष, सामर्थ्य आदि उसके अंग हैं। दूसरा

भाषा-विज्ञान और मानव-विज्ञान

अंश वह है जो संस्कार-जन्य होता है। ज्ञान, विज्ञान, अनुभव और सामाजिक रीति-नीति के कारण मनुष्य में जो बातें आती हैं उन्हीं का अंगी यह अंश है। यदि आप किसी सभ्य से सभ्य जाति के शिशु को भी आरंभ से किसी एकांत स्थान में रखें तो भी, वयस्क होने पर, वह न तो अपनी मातृभाषा बोल सकेगा और न अपने बापदादा की भाँति किसी प्रकार की कला या विज्ञान आदि का ही परिचय प्राप्त कर सकेगा। उसमें शुद्ध मानव-प्रकृति के ही लक्षण रहेंगे, संस्कार-जन्य बातों से वह सर्वदा कोरा होगा; अथवा यदि वह अपना संस्कार करना चाहेगा, तो उसे बहुत से अंशों में उसी मार्ग का अतिक्रमण करना पड़ेगा जो निरी प्रारंभिक अवस्था के मनुष्यों ने ग्रहण किया था। मानव-शास्त्र हमको यह बात बतलाता है कि आरंभिक काल में मानव समाज की क्या अवस्था थी और उनमें किन किन बातों का विकास कब कब और किस किस प्रकार हुआ। भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ संबंध मानव-विज्ञान के उस अंश से है जिसमें उसकी बातचीत रहन-सहन और रीति-भाँति का विवेचन होता है। यदि आपको इस बात का ज्ञान न हो कि मानव-समाज में लेखन कला का आरंभ और विकास कब और कैसे हुआ तो आपका भाषा-विज्ञान अधूरा ही रह जायगा।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिनका भाषा-विज्ञान से कुछ न कुछ संबंध अवश्य है। उदाहरण के लिये

भाषा-विज्ञान और अन्य विज्ञान

समाजिक और राजनीतिक इतिहास, साधारण और प्राकृतिक भूगोल, प्रकृति-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि को ले लीजिए। इन सब का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाषा-विज्ञान के साथ कुछ न कुछ संबंध अवश्य होता है। भाषा पर राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों

का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। अपभ्रंश को देशव्यापी बनाने का प्रधान कारण आभीरों का राजनीतिक प्रभुत्व था। शकों और हूणों तथा मुसलमानों और यूरोपियनों के आगमन एवं संसर्ग का प्रभाव वहाँ की भाषा और व्याकरण पर स्पष्ट है। देशों की भौगोलिक स्थिति से भी भाषा का बहुत अधिक संबंध है। यहाँ तक कि जलवायु का भी भाषा पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। किसी देश के लोग 'ट' का उच्चारण नहीं कर सकते तो कहीं के लोगों के मुँह से 'त' ही नहीं निकलता फारस और अरब वाले जो ऐन, ग़ैन, फ़े और क़ाफ़ बोलते हैं वह अकारण नहीं है। इसका कारण कुछ तो वहाँ की भौगोलिक स्थिति और कुछ वहाँ की दूसरी परिस्थितियाँ हैं। समय पाकर लोग अनेक पुराने उच्चारण भूल जाते और नए उच्चारण करने लगते हैं। प्राचीन काल के ऋ, ॠ, ऌ और ॐ का उच्चारण अब लोग भूल से गए हैं। 'ज्ञ' के उच्चारण में भिन्न भिन्न प्रांतों में बहुत कुछ अंतर देखने में आता है। ये सब परिवर्तन अनेक भिन्न भिन्न कारणों से होते हैं, और जिन जिन विज्ञानों में उन कारणों का विवेचन होता है उन सब विज्ञानों के साथ भाषा-विज्ञान का कुछ न कुछ संबंध रहता है। कदाचित् यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भाषा-विज्ञान के लिये अनेक भाषाओं के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है।

भाषा-विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है, प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में

उनका पूरा पूरा इतिहास भरा पड़ा है, और उसके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे, वे ईश्वर और आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे, उनकी राजनीति कैसी थी, तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक-जीवन किस प्रकार का था। भाषा-विज्ञान के इस रोचक और शिक्षाप्रद अंग को भाषामूलक प्राचीनशोध (Linguistic-Paleontology) कहते हैं। यह अध्ययन लिपि-विज्ञान, मानव-विज्ञान, वंशान्वय-शास्त्र, पुरातत्त्व आदि अनेक शास्त्रों और विज्ञानों से मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का संपूर्ण और रोचक इतिहास प्रस्तुत करता है।

दूसरा अध्याय

भाषा और भाषण

मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।

भाषा की परिभाषा

इस परिभाषा में भाषा के विचारांश पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। भाषा विचारों को व्यक्त करती है, पर विचारों से अधिक संबंध उसके वक्ता के भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा आदि मनोभावों से रहता है विचार को व्यापक अर्थ में लेने से उसमें इन सभी का समावेश हो सकता है, पर ऐसा करना समीचीन नहीं होता। यह प्रायः स्पष्टता और वैज्ञानिक व्याख्या का घातक होता है। साधारण से साधारण पाठक भी यह समझता है कि कि वह सदा विचार प्रकट करने के लिये ही नहीं बोलता। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि भाषा सदा किसी न किसी वस्तु के विषय में कुछ कहती है, वह वस्तु चाहे बाह्य भौतिक जगत् की हो अथवा सर्वथा आध्यात्मिक और मानसिक। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्व की बात है भाषा का समाज-सापेक्ष होना। भाषा की उत्पत्ति किसी प्रकार 'हुई हो, भाषा के विकास के लिये यह कल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि लोग एक दूसरे के कार्यों, विचारों और भावों को प्रभावित करने के लिये व्यक्त ध्वनियों का सप्रयोजन प्रयोग करते थे। जीव-विज्ञान की खोजों से सिद्ध हो

चुका है कि कई पशु और पक्षी भी एक प्रकार की भाषा काम में लाते हैं। गृह-निर्माण, आहार आदि के अतिरिक्त स्वागत, हर्ष, भय आदि की सूचक ध्वनियों का भी वे व्यवहार करते देखे गए हैं। पर पशु-पक्षियों के ये ध्वनि-संकेत सर्वथा सहज और स्वाभाविक होते हैं और मनुष्यों की भाषा सहज संस्कार की उपज न होकर, संप्रयोजन होती है। मनुष्य समाजप्रिय जीव है, वह सहयोग और विनिमय के बिना कभी रह नहीं सकता। उसकी यह प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। पीछे से विकसित होते-होते भाषा विचार और आत्माभिव्यक्ति का भी साधन बन जाती है, अतः यह कभी न भूलना चाहिए कि भाषा एक सामाजिक वस्तु है।

भाषा का शरीर प्रधानतः उन व्यक्त ध्वनियों से बना है जिन्हें वर्ण कहते हैं, पर उनके कुछ सहायक अंग भी होते हैं।

भाषा के अंग

आँख और हाथ के इशारे अपढ़ और जंगली लोगों में तो पाए ही जाते हैं, हम लोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतों से काम लेते हैं। किसी अन्य भाषाभाषी से मिलने पर प्रायः अपने अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्दभांडार की पूर्ति करने के लिये हमें संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगे से संलाप करने में उनकी संकेतमय भाषा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषा का दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदि के भावों के प्रकाशन में मुख-विकृति का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्य के साथ ही वक्ता की आँखों में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीत से मुख की विकृति अथवा भाव-भंगी का इतना घनिष्ठ

होता है कि अंधकार में भी हम किसी के शब्दों को सुनकर मुख की भाव-भंगी की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्था य: कहने का ढंग अर्थात् आवाज (tone of voice) सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरे की कड़ी त, भरी आवाज अथवा भर्राए और टूटे स्वर से उसके का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसी से लहजा, त (tone) अथवा स्वर-विकार भी भाषा का एक अंग जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं।

सी प्रकार स्वर अर्थात् गीतात्मक स्वराघात, बल-प्रयोग च्चारण का वेग अर्थात् प्रवाह भी भाषा के विशेष अंग होते ार से पढ़ने में इनका महत्त्व स्पष्ट देख पड़ता है। यदि हम के भाव का सच्चा अर्थ समझना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक के लहजे और प्रवाह का तथा प्रत्येक शब्द और अक्षर के ौर बल का अनुमान करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि र्णमाला इतनी पूर्ण नहीं हो सकती कि वह इन बातों को ष्ट कर सके।

गित, मुखविकृति, स्वर-विकार अथवा लहजा, स्वर, बल वाह (वेग) भाषा के ये गौण अंग जंगली और असभ्य ों की भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इसमें ह नहीं है कि सभ्य और संस्कृत भाषाओं की आदिम ा में उनका प्राधान्य रहा होगा। ज्यों-ज्यों भाषा अधिक और विकसित अर्थात् विचारों और भावों के वहन करने ोती जाती है त्यों-त्यों इन गौण अंगों की मात्रा कम होती है।

स्थानीय-भाषा, साहित्यिक-भाषा, लिखित-भाषा आदि। सभी के लिये विशेषण रहित भाषा का प्रयोग होता है। भाषण की क्रिया के लिये भी भाषा का ही व्यवहार होता है। अतः इन अर्थों को संक्षेप में समझकर शास्त्रीय विवेचन के लिये उनका पृथक् पृथक् नाम रख लेना चाहिए।

बोली, विभाषा और भाषा

आगे चलकर हम देखेंगे कि समस्त संसार की भाषाओं का कुछ परिवारों में विभाग किया है। एक-एक परिवार में कुछ भाषा-वर्ग होते हैं। एक-एक वर्ग में अनेक सजातीय भाषाएँ होती हैं। एक-एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होती हैं। एक विभाषा की अनेक बोलियाँ होती हैं। यहाँ हमें भाषा, विभाषा और बोली से ही काम है, क्योंकि इन तीनों के लिये कभी-कभी हिंदी में 'भाषा' का प्रयोग देख पड़ता है। 'बोली' से हमारा अभिप्राय स्थानीय और घरू बोली से है, जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलनेवालों के मुख में ही रहती है। इसे आजकल लोग 'पेटवा' (Patois) कहकर पुकारते हैं। विभाषा का क्षेत्र बोली से विस्तृत होता है। एक प्रांत अथवा उपप्रांत की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा 'विभाषा' कहलाती है। इसे अँगरेजी में 'डायलेक्ट' (Dialect) कहते हैं। हिंदी के कई लेखक विभाषा को 'उपभाषा', 'बोली' अथवा 'प्रांतीय भाषा' भी कहते हैं। कई विभाषाओं में व्यवहृत होनेवाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा [राष्ट्रीय भाषा अथवा टकसाली भाषा] (Language or koine) कहलाती है। यह 'भाषा' विभाषाओं पर भी अपना प्रभाव डालती है, और कभी-कभी तो उसका समूल उच्छेदन भी कर देती है, पर सदा ऐसा नहीं होता। विभाषाएँ अपने रूप और स्वभाव की पूरी रक्षा करती हुई,

अपनी भाषा रानी को उचित कर दिया करती हैं, और जब कभी राष्ट्र में कोई आंदोलन उठता है और भाषा छिन्न-भिन्न होने लगती है, विभाषाएँ फिर अपने-अपने प्रांत में स्वतंत्र हो जाती हैं। विभाषाओं का अपने प्रांत में जन्मसिद्ध सा अधिकार होता है। पर भाषा तो किसी राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आंदोलन के द्वारा ही इतना बड़ा पद पाती है।

किसी समय भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं जिनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद की भाषा में सुरक्षित है। इन्हीं कथित विभाषाओं में से एक को मध्यप्रदेश के विद्वानों ने संस्कृत बना राष्ट्र-भाषा का पद दे दिया था। कुछ दिनों तक इस भाषा का आर्यावर्त में अखंड राज्य रहा, पर विदेशियों के आगमन तथा बौद्धधर्म के उत्थान से संस्कृत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। फिर उसकी जगह शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अपभ्रंश आदि विभाषाओं ने सिर उठाया और सबसे पहले मागधी विभाषा ने उपदेशकों और पीछे शासकों के सहारे भाषा ही नहीं, समस्त उत्तरी भारत की राष्ट्रभाषा बनने का उद्योग किया। इसका साहित्यिक रूप त्रिपिटकों और पाली में मिलता है। इसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश ने भी उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। अपभ्रंश को भाषा का पद देनेवाला आभीर राजाओं का उत्थान था। फिर कुछ दिनों तक विभाषाओं का साम्राज्य रहने पर मेरठ और दिल्ली की एक विभाषा ने सबको अपने अधीन कर लिया। आज वह स्वयं खड़ी-बोली, हिंदी अथवा हिंदुस्तानी के नाम से राष्ट्र पर राज्य कर रही है, ब्रज और अवधी जैसी साहित्यिक विभाषाएँ भी उसकी विभाषा कही जाती हैं। खड़ी-बोली के भाषा

राष्ट्र भाषा

होने के कारण कुछ अंशों में राजनीतिक और ऐतिहासिक हैं। आज हिंदी भाषा के अंतर्गत खड़ी-बोली, ब्रज, राजस्थानी, अवधी, बिहारी आदि अनेक विभाषाएँ और उपभाषाएँ आ जाती हैं, क्योंकि इन सबके क्षेत्रों में वह चलती और टकसाली हिंदी व्यवहार में आती है। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि एक विभाषा ही भाषा बनती है और वह विभाषा के समान अपने जन्मस्थान के प्रांत में ही नहीं रह जाती; किंतु वह धार्मिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक कारणों से प्रोत्साहन पाकर अपना क्षेत्र अधिक से अधिक व्यापक और विस्तृत बनाती है।

यदि मराठी भाषा का उदाहरण लें तो पूना की विभाषा ने आज भाषा का पद प्राप्त किया है और कोंकणी, रत्नागिरी और और बरारी आदि उसकी विभाषाएँ हैं। मराठी भाषा का क्षेत्र महाराष्ट्र प्रांत का समस्त राष्ट्र है, पर इन विभाषाओं का अपना अपना छोटा प्रांत है, क्योंकि विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल स्थिर करता है और भाषा की सीमा सभ्यता, संस्कृति और जातीय भावों के ऊपर निर्भर रहती है। इसी प्रकार आजकल की फ्रेंच और अँगरेजी भाषाएँ पेरिस और लंदन नगर की विभाषाएँ ही हैं। राजधानियों की राजनीतिक महत्ता ने उन्हें इतना प्रधान बना दिया कि वे आज राष्ट्रीय भाषाएँ हो गई हैं।

भाषा और विभाषा के इस भेद को समझने के साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि एक भाषा की भिन्न-भिन्न बोलियों में एक प्रकार की समानता रहती है। इसी से एक भाषा की भिन्न-भिन्न विभाषाओं को बोलनेवाले एक दूसरे को समझ लेते हैं। एक भाषा की विभाषाओं में कितना ही भेद हो पर उनमें एकता के सूत्र कुछ मिल ही जाते हैं। शब्दकोष के अधिकांश की समानता, काल-रचना, कारक-रचना आदि व्याकरण संबंधी

एकता और बहुत कुछ मिलता-जुलता ध्वनि-विज्ञान सहज ही स्पष्ट कर देता है कि ये भिन्न-भिन्न विभाषाएँ एक सूत्र में बँधी हुई हैं, शब्दों के रूपों में भी अंतर ऐसा नहीं होता कि पहचाना न जा सके। उदाहरणार्थ खड़ी बोली में 'मेरा' 'तेरा' अवधी के 'मोर' 'तोर' और व्रज के 'करत हौं' खड़ी-बोली के 'करता हूँ' और अवधी के 'करत अहौं' रूपों का संबंध स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही भाषा के प्रांतीय भेद विभाषाओं को जन्म देते हैं। पर हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य का भाव अथवा अभाव भाषा और विभाषा का भेदक नहीं होता, क्योंकि भाषा और विभाषा दोनों में रचना होती है। अवधी और व्रज साहित्यिक विभाषाएँ हैं पर वे हिंदी की सजातीय-भाषा नहीं हैं, और गुजराती तथा राजस्थानी यद्यपि व्याकरण और कोष की दृष्टि से व्रज और अवधी की ही नाईं हिंदी की साहित्यिक विभाषाएँ हैं तथापि उन्हें सजातीय-भाषा का पद प्राप्त है। इसका कारण यह है कि जातीय और प्रांतीय संस्कृति तथा एकता का भाव किसी विभाषा को भाषा बनाता है। व्रज, अवधी आदि के बोलनेवाले अपनी भाषा हिंदी को एक मानने को प्रस्तुत हैं, पर गुजराती अपनी प्रांतीयता के कारण अपनी विभाषा को पृथक् ही रखना चाहते हैं। इसी प्रकार आसामी अब प्रांतीयता के भावों के कारण एक भाषा मानी जाती है, अन्यथा वह बँगला की ही एक विभाषा है। अतः विभाषा को उपभाषा कहना ठीक हो सकता है पर बोली 'भाषा' के ठेठ प्रतिदिन बोले जानेवाले रूप का ही नाम हो सकता है।

इस विवेचन से यह उचित जान पड़ता है कि स्थानीय भाषा के लिये 'बोली', प्रांतीय भाषा के लिये 'विभाषा' और राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषा के लिये 'भाषा' का प्रयोग ठीक होगा। मराठी,

बँगला, गुजराती, हिंदी, राष्ट्रीय तथा टकसाली भाषाओं ही के लिये 'भाषा' पद का प्रयोग उचित है। पर जब यह देश और जाति सूचक विशेषण भी भाषा के आगे से हटा दिया जाता है तब हम भाषा से सामान्य भाषा अर्थात् ध्वनि-संकेतों के समूह का अर्थ लेते हैं। इस अर्थ के भी दो पक्ष हैं जिन्हें और स्पष्ट करने के लिये हम भाषा और भाषण इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। भाषा का एक वह रूप है जो परंपरा से बनता चला आ रहा है, जो शब्दों का एक बड़ा भांडार है; भाषा का दूसरा रूप व्यक्तियों द्वारा उसका व्यवहार अर्थात् भाषण है। पहला रूप सिद्धांत माना जा सकता है, स्थायी कहा जा सकता है और दूसरा उसका प्रयोग अथवा क्रिया कहा जा सकता है, जो क्षण-क्षण, प्रत्येक वक्ता और श्रोता के मुख में परिवर्तित होता रहता है। एक का चरमावयव शब्द होता है, दूसरे का वाक्य। एक को विद्वान् विद्या कहते हैं, दूसरे को कला। यद्यपि इन दोनों रूपों का ऐसा संबंध है जो प्रायः दोनों में अभेद्य माना जाता है, तथापि शास्त्रीय विचार के लिये इनका भेद करना आवश्यक है। भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि में भाषण का अध्ययन अधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। यद्यपि यह प्रश्न कठिन है कि भाषा से भाषण की उत्पत्ति हुई अथवा भाषण से भाषा की, तथापि सामान्यतया भाषण ही भाषा का मूल माना जाता है।

ठेठ हिंदी में बानी और बोल का भी प्रयोग होता है, जैसे संतों की बानी और चोरों की बोल। ये विशेष प्रकार की भाषाएँ ही हैं, क्योंकि विभाषा और बोली में इनकी गणना नहीं हो सकती। बानी और बोल का कारण भी एक विशेष प्रकार की संस्कृति ही होती है। इसे अँगरेजी में स्लैंग कहते हैं। कई विद्वान् स्लैंग का इतना व्यापक अर्थ लेते हैं कि वे काव्य-भाषा को भी

स्लैंग अथवा कवि-वाणी ही कहते हैं, क्योंकि कवियों की भाषा प्रायः राष्ट्रीय और टकसाली नहीं होती। अनेक कवि बिल्कुल चलती भाषा में भी रचना करते हैं, तो भी हमें साहित्यिक काव्य-भाषा और टकसाली भाषा को सदा पर्याय न समझना चाहिए।

यदि हम अपनी भाषण क्रिया पर विचार करें तो उसके दो आधार स्पष्ट देख पड़ते हैं—व्यक्त ध्वनियाँ और उनके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले विचार और भाव। इस प्रकार भाषण का एक भौतिक आधार होता है, दूसरा मानसिक। मानसिक क्रिया ही शब्दों और वाक्यों के रूप में प्रकट होती है। मानसिक क्रिया वास्तव में भाषा का प्राण है और ध्वनि उसका बाह्य शरीर। इसीसे आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अब अर्थ-विचार अथवा अर्थातिशय के अंतर्गत जो सादृश्य और विरोध आदि हैं उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देते हैं।

भाषण का द्विविध आधार

भाषा का अंत्यावयव शब्द होता है। शब्द का विवेचन तीन प्रकार से किया जाता है। शब्द को कभी ध्वनिमात्र, कभी अर्थ-मात्र और कभी रूपमात्र मानकर अध्ययन किया जाता है।

ध्वनि-समूह शब्द के उच्चारण से संबंध रखता है। अंतिम अक्षरों का विशिष्ट उच्चरित होना ही ध्वन्यात्मक शब्द का काम है। अर्थ-समूह शब्द के अर्थ और भाव का विषय होता है। दो अर्थों के संबंध को प्रकट करनेवाला रूप-समूह भाषा की रूप-रचना की सामग्री उपस्थित करता है। भाषा का अध्ययन इन्हीं तीन विशेष पद्धतियों से किया जाता है।

भाषा भाषण की क्रिया के समान क्षणिक और अनित्य नहीं

होती। वह एक परंपरागत वस्तु है। उसकी एक धारा बहती है जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है। उसमें भाषणकृत भेदों की लहरें नित्य उठा करती हैं। थोड़े से ही विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के ध्वनि-संकेत संसर्ग की कृति हैं। किसी वस्तु के लिये किसी ध्वनि-संकेत का प्रयोग अर्थात् एक अर्थ से एक शब्द का संबंध सर्वदा आकस्मिक होता है। धीरे-धीरे संसर्ग और अनुकरण के कारण वक्ता और श्रोता उस संबंध को स्वाभाविक समझने लगते हैं। वक्ता सदा विचारकर और बुद्धि की कसौटी पर कसकर शब्द नहीं गढ़ता, और यदि वह ऐसा करता है तो भी वह अपने शब्द को अन्य वक्ताओं और श्रोताओं की बुद्धि के अनुरूप नहीं बना सकता। इसीसे यह माना जाता है कि जब एक शब्द चल निकलता है तब उसे लोग संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं, वे उसे तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कसने का यत्न नहीं करते। यही कारण है कि भाषा अपने पूर्वजों से सीखनी पड़ती है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी नई भाषा नहीं उत्पन्न करती। घटना और परिस्थिति के कारण भाषा में कुछ विकार भले ही आ जायँ, पर जान बूझकर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करते। अर्थात् भाषा एक परंपरागत संपत्ति है। यही भाषा की अविच्छिन्न धारा का रहस्य है।

भाषा परंपरागत संपत्ति है

भाषा पारस्परिक व्यवहार अर्थात् भावों और विचारों के विनिमय का साधन है। अतएव किसी भाषा के बोलनेवाले सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि जहाँ तक संभव हो, भाषा में नवीनता न आने पावे। वे इससे स्वयं बचते हैं और दूसरे को भी ऐसा करने से रोकते हैं। इस प्रकार भाषा सामाजिक संस्था होने

के कारण एक स्थायी संस्था हो जाती है। इसीसे यद्यपि मनुष्यों का भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व भाषा में कुछ न कुछ विकार उत्पन्न किया ही करता है तथापि उसकी एकता का सूत्र सदा अविच्छिन्न रहता है।

भाषा के पारंपरीण होने और उसकी धारा के अविच्छिन्न रहने का अर्थ यह न समझना चाहिए कि भाषा कोई पैतृक और कुलक्रमागत दाय है। भाषा जन्म से ही प्राप्त नहीं होती और न वह एक जाति का लक्षण है, क्योंकि भाषा अन्य कलाओं की भाँति सीखी जा सकती है। एक बालक अपनी मातृभाषा को भाँति दूसरी भाषा को भी सुगमता से सीख सकता है। मातृभाषा ही क्या है। जो भाषा माता बोले वही मातृभाषा है। यदि किसी जाति की एक स्त्री संस्कृत बोलती है तो उसके लड़के की मातृभाषा संस्कृत हो जाती है। उसी जाति की दूसरी स्त्री अँगरेजी बोलती है तो उसके लड़के की मातृभाषा अँगरेजी हो जाती है। उसी जाति की अन्य माताएँ अपनी स्थानीय भाषा बोलती हैं तो उनके पुत्रों की मातृभाषा भी वही हो जाती है। यदि माता-पिता दो भिन्न-भिन्न भाषाओं का व्यवहार करते हैं तो उनके बच्चे दोनों भाषाओं में निपुण देखे जाते हैं। बच्चे अपनी माँ की बोली के अतिरिक्त अपनी धाय की भाषा भी सीख लेते हैं। इतिहास में भी इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। केल्ट जाति के लोग आज फ्रांस में रहते हैं और आज वे केल्टिक भाषा नहीं प्रत्युत लैटिन-भाषा से उत्पन्न फ्रेंच-भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार भारत के पारसी अब अपनी प्राचीन भाषा नहीं बोलते। वे अब गुजराती अथवा उर्दू बोलते हैं। यही दशा हब्शियों की भी है। वे संसार के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में फैले हुए हैं, पर वे कहीं अफ्रीका की भाषा नहीं

भाषा अर्जित संपत्ति है

बोलते। वे जिस देश में रहते हैं, उसी देश की भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भाषण-शक्ति को छोड़ कर भाषा का और कोई ऐसा अंग नहीं है जो प्राकृतिक हो अथवा जिसका संबंध जन्म, वंश या जाति से हो।

साथ ही यह भी न भूल जाना चाहिए कि भाषा अर्जित वस्तु होते हुए भी व्यक्तिकृत वस्तु नहीं है। एक व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, पर वह उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। भाषा की रचना समाज के द्वारा ही होती है। अर्जन और उत्पादन में बड़ा ही अंतर होता है।

इतने विवेचन से, भाषा के स्वरूप की इतनी व्याख्या से, भाषा और मनुष्य जीवन का संबंध स्पष्ट हो गया है। मनुष्य का मन और शरीर ही उसका मानसिक और भौतिक आधार है। मनुष्य ही उसका अर्जन और संरक्षण करता है। वास्तव में भाषा मनुष्य की एक विशेषता है, और मनुष्य परिवर्तनशील है, उसका विकास होता है। अतः उसकी भाषा में परिवर्तन और विकास का होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार धीरे-धीरे मनुष्य जाति का विकास हुआ है उसी प्रकार उसकी भाषा का भी उद्भव और विकास हुआ है। मनुष्य जीवन का विकसित वैचित्र्य भाषा में भी प्रतिबिंबित देख पड़ता है।

भाषा का विकास होता है

हम जान चुके हैं कि भाषा एक सामाजिक और सांकेतिक संस्था है। वह हमें पूर्वजों की परंपरा से प्राप्त हुई है। उसे हममें से प्रत्येक व्यक्ति अर्जित करता है पर वह किसी की कृति नहीं है। इस भाषा को समझने के लिये केवल संबंध ज्ञान आवश्यक होता है अर्थात्

भाषा की उत्पत्ति

वक्ता या श्रोता को केवल यह जानने का यत्न करना पड़ता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से संबंध अथवा संसर्ग है। भाषा संबंधों और संसर्गों के समूह के रूप में एक व्यक्ति के सामने आती है। बच्चा भाषा को इन्हीं संसर्गों के द्वारा सीखता है और एक विदेशी भी किसी भाषा को नूतन संसर्गों के ज्ञान से ही सीखता है। अतः भाषा का प्रारंभ संसर्ग ज्ञान से ही होता है। भाषा की उत्पत्ति समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि किसी शब्द का किसी अर्थ से संबंध प्रारंभ में कैसे हुआ होगा, किसी शब्द का जो अर्थ हम आज देखते हैं वह उसे प्रारंभ में कब और कैसे मिला होगा। इसका उत्तर भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न ढंग से दिया है।

सबसे प्राचीन मत यह है कि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया और उसे मनुष्यों को सिखलाया। यही मत पूर्व और पश्चिम के सभी देशों और जातियों में प्रचलित था। इसी कारण धार्मिक लोग अपने-अपने धर्मग्रंथों की भाषा को आदि भाषा मानते थे। भारत के कुछ धर्मानुयायी वैदिक-भाषा को मूल-भाषा मानते हैं। उनके अनुसार देवता उसी भाषा में बोलते हैं और संसार की अन्य भाषाएँ उसी से निकली हैं। बौद्ध लोग अपनी मागधी के साहित्यिक रूप पाळी को ही ईश्वर की वाणी मानते थे। ईसाई लोग हिब्रू को ही मनुष्यों की आदिम भाषा मानकर उसी से संसार की सब भाषाओं की उत्पत्ति मानते थे। मुसलमानों के अनुसार ईश्वर ने पैगंबर को अरबी भाषा ही सब से पहले सिखाई। आज विज्ञान के युग में इस मत के निराकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस दिव्य उत्पत्ति के सिद्धांत के दोष स्पष्ट हैं। केवल इस अर्थ में यह मत सार्थक माना जा सकता है कि भाषा

दिव्य उत्पत्ति

मनुष्य की ही विशेष संपत्ति है, अन्य प्राणियों को वह ईश्वर से नहीं मिली है।

कुछ साहसी विद्वानों ने एक दूसरा सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि भाषा मनुष्य की सांकेतिक संस्था है। आदि काल में जब मनुष्यों ने हस्तादि के साधारण संकेतों से काम चलता न देखा तब उन्होंने कुछ ध्वनि-संकेतों को जन्म दिया। वे ही ध्वनि संकेत विकसित होते-होते आज इस रूप में देख पड़ते हैं। इस मत में तथ्य इतना ही है कि शब्द और अर्थ का संबंध लोकेच्छा का शासन मानता है और शब्दमय भाषा का उद्भव मनुष्यों की उत्पत्ति के कुछ समय उपरांत होता है, पर यह कल्पना करना कि मनुष्यों ने बिना भाषा-ज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी अवस्था पर विचार किया और कुछ संकेत स्थिर किए, सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि बिना भाषा के ही परस्पर विचार-विनिमय हो सकता था तो भाषा के उत्पादन की आवश्यकता ही क्या थी।

सांकेतिक उत्पत्ति

मनुष्य पशु पक्षियों की बोली सुनकर उसी के अनुकरण पर एक नया शब्द बना लेता था। जैसे एक पक्षी 'का-का' रटता था। उसकी ध्वनि के अनुकरण पर काक शब्द की रचना हुई। म्याउ, कोयल, कोकिल, कूक, घुग्घू आदि शब्दों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हो गई। हिनहिनाना, भौं भौं करना, पिंपियाना आदि क्रियाओं की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हो गई और धीरे-धीरे भाषा बढ़ चली। इस मत के माननेवाले पशुओं, पक्षियों और अन्य निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण भाषा का कारण मानते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अपने सहधर्मियों और साथियों की ध्वनियों का भी अनुकरण करता होगा।

अनुकरण-मूलकतावाद

एक प्रसिद्ध वाद 'मनोभावाभिव्यंजकता' है। इसके अनुसार भाषा उन विस्मयादि मनोभावों के बोधक शब्दों से प्रारंभ होती है जो मनुष्य के मुख से संस्कारवश ही निकल पड़ते हैं। इसके माननेवाले विद्वान् प्रायः यह जानने का उद्योग नहीं करते कि ये विस्मयादिबोधक शब्द कैसे उत्पन्न हुए; उन्हें वे स्वयंभू अर्थात् आप से आप उत्पन्न मानकर आगे भाषा का विकास देखने का प्रयत्न करते हैं। डारविन अपने एक्सप्रेशन अव इमोशंस (The Expression of Emotions) में इन विस्मयादिबोधकों के कुछ शारीरिक (Physiological) कारण बतलाते हैं। घृणा अथवा उद्वेग के समय मनुष्य 'पूह' या 'पिश' कह बैठता है, अथवा अद्भुत दृश्य देखने पर दर्शकमंडली के मुख से 'ओह' निकल पड़ता है। इस सिद्धांत पर पहली आपत्ति तो यही होती है कि विस्मयादिबोधक अथवा मनोभावाभिव्यंजक शब्द वास्तव में भाषा के अंदर नहीं आते। क्योंकि इनका व्यवहार तभी होता है जब वक्ता या तो बोल नहीं सकता अथवा बोलना नहीं चाहता। वक्ता के मनोभाव उसकी इंद्रियों को इतना अभिभूत कर देते हैं कि वह बोल ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि ये विस्मयादिबोधक भी प्रायः सांकेतिक और परंपराप्राप्त होते हैं, भिन्न देश या जाति के लोग उन्हीं भावों को भिन्न भिन्न शब्दों से व्यक्त करते हैं। जैसे दुःख में एक जर्मन व्यक्ति 'औ' कहता है, फ्रांसीसी 'अहि' कहता है, अँगरेज 'ओह' कहता है और एक हिंदुस्तानी व्यक्ति 'आह' या 'उह' कहकर कराहता है। अर्थात् आज जो विस्मयादिबोधक शब्द उपलब्ध हैं वे सर्वथा स्वाभाविक न होकर प्रायः सांकेतिक हैं।

मनोभावाभिव्यंजकतावाद

एक सिद्धांत यो-हे-हो-वाद कहलाता है। जब कोई मनुष्य

शारीरिक परिश्रम करता है तब श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाना स्वाभाविक और विश्राम देनेवाला होता है। इसी प्रकार स्वर-तंत्रियों में भी कंपन होने लगता है। जब आदिकाल में लोग मिलकर कुछ काम करते थे तो स्वभावतः उस काम का किसी ध्वनि अथवा किन्हीं ध्वनियों के साथ संसर्ग हो जाता था। प्रायः वही ध्वनि उस क्रिया अथवा कार्य का वाचक हो जाती थी।

यो-हे-हो-वाद

मैक्समूलर ने एक चौथे मत का प्रचार किया था। उसके अनुसार शब्द और अर्थ में एक स्वाभाविक संबंध होता है। समस्त प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि चोट लगने पर प्रत्येक वस्तु ध्वनि करती है। प्रत्येक पदार्थ में अपनी अनोखी आवाज (झंकार) होती है। आदि-काल में मनुष्य में भी इसी प्रकार की एक स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी, जो बाह्य-अनुभवों के लिये वाचक-शब्द बनाया करती थी। मनुष्य जो कुछ देखता-सुनता था, उसके लिये आप-से-आप ध्वनि-संकेत अर्थात् शब्द बन जाते थे। जब मनुष्य की भाषा विकसित हो गई तब उसकी वह सहज-शक्ति नष्ट हो गई। विचार करने पर यह मत इतना सदोष हुआ कि स्वयं मैक्समूलर ने पीछे से उसका त्याग कर दिया था।

डिंग-डैंग-वाद

मैक्समूलर के इस वाद की चर्चा अब मनोरंजन के लिये ही की जाती है। पर इसके पहले के तीन मत अंशतः सत्य हैं, यद्यपि उनमें सबसे बड़ा दोष यह है कि एक सिद्धांत एक ही बात को अति-प्रधान मान बैठता है। इससे विचारशील विद्वान् और स्वीट जैसे वैयाकरण इन तीनों का समन्वय करना अच्छा समझते हैं। वे भाषा के विकासवाद को तो मानते

विकासवाद का समन्वित रूप

हैं, पर उन्हें इसकी चिंता नहीं होती कि मनुष्य द्वारा उच्चरित पहला शब्द 'भो-भो' था अथवा 'पूह्-पूह्'। विचारणीय बात केवल इतनी है कि मनुष्य के आदिम शब्द अव्यक्तानुकरणमूलक भी थे, मनोभावाभिव्यंजक भी थे और साथ ही ऐसे भी अनेक शब्द बनते थे जो किसी क्रिया अथवा घटना के संकेत अथवा प्रतीक थे। ये संकेत लोग बनाते नहीं थे पर वे कई कारणों से बन जाते थे। इसीसे स्वीट ने आदिम भाषा के तीन भेद किए हैं। अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक अथवा विस्मयादिबोधक और प्रतीकात्मक। पहली श्रेणी में संस्कृत के काक, कोकिल, कुक्कुट, अँगरेज़ी के Cuckoo, Cock, Buzz, Bang, Pop

अनुकरणात्मक शब्द

तथा हिंदी के कौवा, कोयल, घूग्घु, भन-भन, हिनहिनाना, हें-हें करना आदि अनेक शब्द आ जाते हैं। पशु-पक्षियों के नाम प्रायः अव्यक्तानुकरण के आधार पर बने थे और आज भी बनते हैं। यह देखकर कि चीन, मिस्र और भारत की भाषा सजातीय नहीं है तो भी उनमें बिल्ली जैसे शब्द के लिये वही 'म्याउँ' शब्द प्रयुक्त होता है, मानना पड़ता है कि प्रारंभिक-भाषा में अव्यक्ता-नुकरणमूलक शब्द अवश्य रहे होंगे।

आदि भाषा का दूसरा भाग मनोभावाभिव्यंजक शब्दों से बना होगा। जो मनुष्य मनुष्येतर प्राणियों और वस्तुओं की

मनोभावाभिव्यंजक शब्द

अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण करता था वह अवश्य ही अपने सहचर मनुष्यों के 'आह', 'वाह' आदि विस्मयादिबोधकों का अनुकरण और उचित उपयोग भी करता होगा। इसी से धिक्कारना, दुरदुराना, वाहवाही, हाय हाय आदि के समान शब्द बने होंगे। आजकल की भाषा बनने की प्रवृत्ति से हम उस काल

का भी अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार पुरानी अँगरेजी का शत्रुवाचक फेआंड (feond) और आधुनिक अँगरेजी का fiend शब्द पाह (pah) और फाइ (fie) जैसे किसी विस्मयादिबोधक से बना जान पड़ता है। अरबी में वेल (wall) शब्द आपत्ति के अर्थ में आता है और उसी से मिलता शब्द 'वो' विस्मयादिबोधक माना जाता है। इसी प्रकार अंगरेजी में 'वो' (woe) शब्द विस्मयादिबोधक होने के अतिरिक्त संज्ञावाचक भी है। ऐसी बातों से विस्मयादिबोधक शब्दों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

इन दोनों सिद्धांतों में कोई वास्तविक-भेद नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पहले के अनुसार जड़ वस्तुओं और चेतन प्राणियों की अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण शब्दों को जन्म देता है उसी प्रकार दूसरे के अनुसार मनुष्य की अपनी तथा अपने साथियों की हर्ष-विस्मय आदि की सूचक ध्वनियों द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं। दोनों में नियम एक ही काम करता है, पर आधार का थोड़ा-सा भेद है। एक बाह्य-जगत् को प्राधान्य देता है तो दूसरा मानस-जगत् को। दोनों प्रकार के ही शब्द शब्दकोष में आते हैं और भाषा के विकास की अन्य अवस्थाओं में—जिनका इतिहास हम जानते हैं—भाषा में शब्द अव्यक्तानुकरण और भावाभिव्यंजन दोनों कारणों से बनते हैं, अतः इन दोनों सिद्धांतों का व्यापक अर्थ लेने से दोनों एक दूसरे के पूरक सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि अनुकरण करने से किसी ध्वनि का बिल्कुल ठीक-ठीक नकल करने का अर्थ न लेना चाहिए। वर्णनात्मक-शब्द में अव्यक्त ध्वनि का, चाहे वह किसी पशु-पक्षी की हो अथवा किसी मनुष्य की, थोड़ा सादृश्य-मात्र उस वस्तु का स्मरण करा देता है।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। स्वीट ने इस भेद को बड़ा व्यापक माना है। उन दो भेदों से जो शब्द शेष रह जाते हैं प्रायः वे सब इसके अंतर्गत आ जाते हैं। सचमुच ये प्रतीकात्मक शब्द बड़े मनोहर और महत्त्वपूर्ण होते हैं। लैटिन की 'बिबेरे', संस्कृत की 'पिबति', हिंदी की 'पीना' जैसी क्रियाएँ इस बात का प्रतीक हैं कि आदिम मनुष्य पीने में किस प्रकार भीतर साँस खींचता था। इसी से तो 'प' और 'ब' के समान ओष्ठ्य वर्ण इस क्रिया के ध्वनि-संकेत हो गए। अरबी भाषा की 'शरब' (पीना) धातु में भी प्रतीकवाद ही काम करता देख पड़ता है। उसी से हिंदी का 'शरबत' और अँगरेजी का 'Sherbet' निकला है। इसी प्रकार यह भी कल्पना होती है कि किसी समय हस्तादि से दाँत, ओष्ठ, आँख आदि की ओर संकेत करने के साथ ही ध्यान आकर्षित करने के लिये आदि मानव किसी ध्वनि का उच्चारण करता होगा, पर धीरे धीरे वह ध्वनि ही प्रधान बन गई; जैसे दाँत की ओर संकेत करता हुआ मनुष्य अअ, आ, अत् अथवा आत् जैसी विवृत ध्वनि का उच्चारण करता होगा, इसी से वह ध्वनि संकेत 'अत्' अथवा 'अद्' के रूप में 'दाँत' और 'दाँत से खाना' आदि कई अर्थों के लिये उपयुक्त होने लगा। संस्कृत के अद् और दंत लैटिन के 'edere' (eat) और dens (tooth) आदि शब्द इसी प्रकार बन गए।

प्रतीकात्मक शब्द

प्रत्येक सर्वनाम भी इसी प्रकार बने होंगे, अँगरेजी के दी (the), दैट (that) ग्रीक के टो (to) अँगरेजी के thou, लैटिन के तू और हिंदी के तू आदि निर्देशवाचक सर्वनामों से ऐसा मालूम होता है कि अँगुली से मध्यम पुरुष की ओर संकेत करते हुए ऐसी संवेदनात्मक ध्वनि जिह्वा से निकल पड़ती होगी। इसी

प्रकार 'यह' 'वह' के लिये कुछ भाषाओं में 'इ' और 'उ' से निर्देश किया जाता है। 'दिस' और 'दैट' 'इदम्' और 'अदस्' जैसे सभ्य भाषाओं के शब्दों में भी सामीप्य और दूरी का भाव प्रकट करने के लिये स्वर-भेद देख पड़ता है। इस प्रकार निर्देश के कारण स्वरों का बदलना आज भी कई असभ्य और सभ्य जातियों में देख पड़ता है। इसी के आधार पर अक्षरावस्थान (vowel gradation) का अर्थ भी समझ में आ सकता है। अँगरेजी Sing, Sang और Sung में अक्षर (=स्वर) अर्थ-भेद के कारण परिवर्तित हो जाता है। इसे अक्षरावस्थान कहते हैं और इसका कारण कई विद्वान् प्रतीकवाद को ही समझते हैं।

जैस्पर्सन ने इस बात का बड़ा रोचक वर्णन किया है कि किस प्रकार बच्चे मामा, पापा, बाबा, ताता आदि शब्द अकारण ही बोला करते हैं। वे बुद्धिपूर्वक उन शब्दों का प्रयोग नहीं करते, पर माँ-बाप उस बच्चे के मुख से निकले हुए शब्द को अपने लिये प्रयुक्त समझ लेते हैं। इस प्रकार ये ध्वनियाँ 'मा' और 'बाप' का प्रतीक बन जाती हैं। इसीलिये ये शब्द प्रायः समस्त संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं और यही कारण है कि वही 'मामा' शब्द किसी भाषा में मा के लिये और किसी भाषा में पिता के लिये प्रयुक्त होता है। कभी-कभी यह प्रतीक रचना बड़ी धुँधली भी होती है पर प्रायः शब्द और अर्थ के संबंध के मूल में प्रतीक की भावना अवश्य रहती है।

इस त्रिविध रूप में प्रारंभिक शब्द-कोष की कल्पना की जाती है। पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्पन्न तो बहुत से शब्द हो जाते हैं, पर जो शब्द समाज की परीक्षा में योग्य सिद्ध होता है वही जीवन-दान पाता है। जो मुख और कान दोनों के अनुकूल काम करता है अर्थात् जो व्यक्त-ध्वनि

मुख से सुविधापूर्वक उच्चरित होती है और कानों को स्पष्ट सुन पड़ती है वही योग्यतमावशेष के नियमानुसार समाज की भाषा में स्थान पाती है। यही मुख-सुख और श्रवण-सुख की इच्छा किसी शब्द को किसी देश और जाति में जीवित रहने देती है और किसी में उसका बहिष्कार अथवा वध करा देती है।

पर यदि प्राचीन-से-प्राचीन उपलब्ध शब्दकोष देखा जाय तो उसका भी अधिकांश भाग ऐसा मिलता है जिसका समाधान इन तीनों उपयुक्त सिद्धांतों से नहीं होता। इन परंपराप्राप्त शब्दों की उत्पत्ति का कारण उपचार माना जाता है। शब्दों के विकास और विस्तार में उपचार का बड़ा हाथ रहता है। जो जाति जितनी ही सभ्य होती है उसके शब्द उतने ही औपचारिक होते हैं। उपचार का साधारण अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना, किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य तथा सदृश और संबद्ध अर्थ का बोध कराना। उदाहरणार्थ आस्ट्रेलिया के आदिम-निवासियों को जब पहले-पहल पुस्तक देखने को मिली तब वे उसे 'मुयूम' कहने लगे। 'मुयूम' उनकी भाषा में स्नायु को कहते हैं और पुस्तक भी उसी प्रकार खुलती और बंद होती है। अँगरेजी का पाइप (pipe) शब्द आज नल के अर्थ में आता है। पहले (pipe) गड़ेरिये के बाजे के लिये आता था। बाइबिल के अनुवाद तक में पाइप वाद्य के अर्थ में आया है पर उसका अर्थ अब बिल्कुल बदल गया है। इसी प्रकार पिक्यूलियर (peculiar) शब्द भी उपचार की कृपा से क्या-से-क्या हो गया है। पहले पशु एक शब्द था। वह संस्कृत की पश् धातु से बना है। पश् का अर्थ होता है बाँधना, फाँसना। इसी प्रकार पशु पहले पालतू और घरेलू जानवर को कहते थे और हिंदी में आज

औपचारिक शब्द

भी पशु का वही प्राचीन अर्थ चलता है, पर उसके लैटिन रूप पेकस (pecus) से, जिसका पशु ही अर्थ होता था, पेकुनिआ (pecunia) बना जिसका अर्थ हुआ किसी भी प्रकार की संपत्ति । उसी से आज का अँगरेजी शब्द पेकुनिअरी (pecuniary=सांपत्तिक) बना है। पर उसी पेक्यूनिआ से पेक्यूलियम (peculium) बना और उसका अर्थ हुआ दास को निजी संपत्ति । फिर उसके विशेषण पेक्यूलिअरिस (peculiarias) से फ्रेंच के द्वारा अँगरेजी का पिक्यूलिअर (peculiar) शब्द बना । इसी प्रकार अन्य शब्दों की जीवनी में भी उपचार की लीला देखने को मिलती है। पहले संस्कृत की 'व्यथ्' और 'कुप्' धातुएँ काँपने और चलने आदि के भौतिक अर्थों में आती थीं । 'व्यथमाना पृथ्वी' का अर्थ होता था, काँपती और चलती हुई पृथ्वी, और 'कुपित पर्वत' का अर्थ होता था चलता-फिरता पहाड़, पर कुछ दिन बाद उपचार से इन क्रियाओं का अर्थ मानसिक हो गया । इसी से लौकिक संस्कृत और हिंदी प्रभृति आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'व्यथा' और 'कोप' मानसिक जगत् से संबद्ध देख पड़ते हैं। इसी प्रकार 'रम्' धातु का ऋग्वेद में 'ठिकाने आना' अथवा 'स्थिर कर देना' अर्थ था, पर धीरे-धीरे इसका औपचारिक अर्थ 'आनंद देना' होने लगा। आज 'रमण' 'मनोरम' आदि शब्दों में 'रम्' का वह पुराना स्थिर होने वाला अर्थ नहीं है। स्थिर होने से विश्राम का सुख मिलता है, धीरे-धीरे उसी शब्द में अन्य प्रकार के सुखों का भी भाव आ गया। ऐसे औपचारिक तथा लाक्षणिक प्रयोगों के संस्कृत तथा हिंदी जैसी भाषाओं में प्रचुर उदाहरण मिल सकते हैं। इसी से हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि शब्दकोष के अधिक शब्द उपर्युक्त अनुकरणात्मक आदि तीन भेदों के अंतर्गत नहीं

आते। इन सब के कलेवर तथा जीवन को उपचार विकसित और परिवर्तित किया करता है।

भाषण

यह तो शब्दकोष अर्थात् भाषा के भांडार की कथा है, पर उसी के साथ-साथ भाषण की क्रिया भी विकसित हो रही थी। जब संसर्ग ज्ञान बढ़ चला तब आदि-मानव उसका वाक्य के रूप में भी प्रयोग करने लगे। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि पहले शब्द बने तब वाक्यों द्वारा भाषण का प्रारंभ हुआ। पहले किसी एक ध्वनि संकेत का एक अर्थ से संसर्ग हो जाने पर मनुष्य उस शब्द का वाक्य के ही रूप में प्रयोग कर सकते हैं। पहले वह वाक्य आज के वाक्य जैसा शब्दमय भले ही न हो, पर वह अर्थ में वाक्य ही रहता है। बच्चा जब 'गाय' अथवा 'कौआ' कहता है तब वह एक पूरी बात कहता है। अर्थात् 'देखो, गाय आई' अथवा 'कौआ बैठा है'। वह जब 'दूध' अथवा 'पानी' कहता है, तो उसके इन शब्दों से 'दूध पिलाओ' या 'चाहिए' आदि पूरे वाक्य का अर्थ लिया जाता है। आदि-काल के वाक्य भी ऐसे ही शब्द-वाक्य अथवा वाक्य-शब्द होते थे। कोई मनुष्य अँगुली से दिखलाकर कहता था कोकिल अर्थात् 'वह कोकिल है' अथवा 'कोकिल गा रही है'। धीरे-धीरे शब्दों के विस्तार ने हस्तादि चेष्टाओं का अर्थात् इंगित-भाषा का लोप कर दिया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आदि-काल में शाब्दिक-भाषा की पूर्त्ति पाणि-विहार, अक्षि-निकोच आदि से होती थी। इसके अनंतर जब शब्द-भांडार बढ़ चला तब 'कोकिल गा' अथवा 'कोकिल गाना' जैसे दो शब्दों के द्वारा भूत और वर्तमान आदि

भाषण का विकास

सभी का एक वाक्य में अर्थ लिया जाने लगा। धीरे-धीरे काल, लिंग आदि का भेद भी बढ़ गया। इस प्रकार पहले भाषा की कुछ ध्वनियाँ 'स्वांतः सुखाय' अथवा 'आत्माभिव्यंजनाय' उत्पन्न होती हैं पर उनको भाषण का रूप देनेवाली मनुष्य की समाज-प्रिय प्रकृति है। वह एकाकी रह नहीं सकता। अकेले उसका मन ही नहीं लगता। वह साथी चाहता है। उनसे व्यवहार करने की चेष्टा में ही वह भाषण की कला को विकसित करता है। भाषा को सुरक्षित रखता है। भाषा की उत्पत्ति चाहे व्यक्तियों में आप से आप हो गई हो, पर भाषण की उत्पत्ति तो समाज में ही हो सकती है।

इस आदि-मानव-समाज में शब्द और अर्थ का संबंध इतना काल्पनिक और धुँधला (दूर का) था कि उसे यदृच्छा संबंध ही मानना चाहिए। इसी बात को भारतीय भाषा वैज्ञानिकों के ढंग से कहें तो प्रत्येक शब्द चाहे जिस अर्थ का बोध करा सकता है। सर्वे (शब्दाः) सर्वार्थवाचकाः। एक शब्द में इतनी शक्ति है कि वह किसी भी अर्थ या वस्तु का बोध करा सकता है। अब यह लोकेच्छा पर निर्भर है। वह उसे जितना चाहे अर्थ दे। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि लोकेच्छा शक्ति शब्दार्थ संबंध की कर्त्री और नियामिका है। किस शब्द से किस नियत अर्थ का बोध होना चाहिए—इस संकेत को लोग ही बनाते हैं। यही भाषा की सांकेतिक अवस्था है, पर यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस अवस्था में भी लोग सभा में इकट्ठे होकर भाषा पर शासन नहीं करते। समाज की परिस्थिति और आवश्यकता भाषा से अपने इच्छानुकूल काम करवा लेती है। ऐसे सामाजिक संगठन की कल्पना प्रारंभिक अवस्थाओं में नहीं हो सकती। यह बहुत पीछे के उन्नत युग की बात है कि वैयाकरणों और

कोषकारों ने बैठकर भाषा का शासन अथवा अनुशासन किया। यह तो भाषा के यौवन की बात है। इसके पूर्व ही भाषा इतनी सांकेतिक और पारंपरीण हो गई थी कि शब्द और अर्थ का संबंध समाज के बच्चों और अन्य अनभिज्ञों को परंपरा द्वारा अर्थात् आप्त-व्यक्तियों से ही सीखना पड़ता है। यह भाषा अब स्वयं-प्रकाश नहीं रह गई है।

इस प्रकार इस समन्वित विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति में ध्वनियों के रूप में भाषा के बीज पहले से ही विद्यमान थे। समाज ने उन्हें विकसित किया, भाषण का रूप दिया और आज तक उसे संरक्षित रखा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी मिलती है, समाज और भाषा का अन्योन्याश्रय संबंध है।

भाषा के प्रयोजन

इस विवेचन में हम यह भी देख चुके हैं कि भाषा चाहे कुछ अंश तक व्यक्तिगत हो, पर भाषण तो सामाजिक और सप्रयोजन वस्तु है और विचार करने पर उसके तीन प्रयोजन स्पष्ट देख पड़ते हैं। प्रथम तो वक्ता श्रोता को प्रभावित करने के लिये बोलता है। विशेष वस्तुओं की ओर ध्यान आकर्षित करना भाषा का दूसरा प्रयोजन होता है। इन मुख्य प्रयोजनों ने भाषण को जन्म दिया, पर पीछे से भाषण का सबसे अधिक घनिष्ठ संबंध विचार से हो गया। भाषण में विचार की कल्पना पहले से ही विद्यमान रहती है, पर यह भाषण की क्रिया का ही प्रसाद है कि मनुष्य विचार करना सीख सका है। किसी किसी समय तो अध्ययन में भाषा से भाषण अधिक सहायक होता है।

तीसरा अध्याय

भाषाओं का वर्गीकरण

ह्विटने का कथन था कि वाक्य से भाषण का आरंभ मानना अनर्गल और निराधार है; शब्दों के बिना वाक्य की स्थिति ही कैसी! परंतु आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा के आदि-काल में वाक्यों अथवा वाक्य-शब्दों का ही प्रयोग होता है। बच्चे की भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यही बात स्पष्ट होती है कि वह पहले वाक्य सीखता है, वाक्य बोलता है और वाक्यों में ही सोचता-समझता है। धीरे-धीरे उसे पदों और शब्दों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। उस आरंभिक काल के वाक्य निश्चय ही आजकल के शब्दोंवाले वाक्य न रहे होंगे, जिनके पृथक्-पृथक् अवयव देखे जा सकें, पर थे वे संपूर्ण विचारों के वाचक वाक्य ही। अर्थ के विचार से तो वे वाक्य ही थे, रूप के विचार से वे भले ही ध्वनि-समूह रहे हों। धीरे-धीरे भाषा और भाषण में वाक्य के अवयवों का विकास हुआ तथा वाक्यों का शब्दों से विश्लेषण संभव हुआ। आज वाक्य और शब्दों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत हो चुकी है। साधारण व्यवहार में वाक्य एक शब्द-समूह ही माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि व्यावहारिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द भाषा

वाक्य से भाषण का आरंभ

का चरम अवयव होता है, तथापि तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा का चरमावयव सिद्ध होता है। स्वाभाविक-भाषा अर्थात् भाषण में वाक्य से पृथक् शब्दों की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होती। एक-एक शब्द में सांकेतिक अर्थ होता है, पर इनके पृथक्-पृथक् प्रयोग से किसी बात अथवा विचार का बोध नहीं हो सकता। केवल गाय अथवा राम कहने से कोई भी अभिप्राय नहीं निकलता। यद्यपि ये सार्थक शब्द हैं, तथापि जब ये 'गाय है', अथवा 'राम है' के समान वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं तभी इनके प्रोक्ता को वाक्य के अभिप्राय का ज्ञान होता है। भाषा के व्यवहार का प्रयोजन वक्ता के तात्पर्य का प्रकाशन ही होता है। उच्चारण के विचार से भी शब्दों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्रतीत होता। स्वर और लहजे के लिये श्रोता की दृष्टि पृथक्-पृथक् शब्दों पर न जाकर पूरे वाक्य पर ही जाती है। यद्यपि लिखने में शब्दों के बीच स्थान छोड़ा जाता है, तथापि वाक्य के उन सब शब्दों का उच्चारण इतनी शीघ्रता से होता है कि एक वाक्य एक ध्वनि-समूह कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक शब्द का विश्लेषण वर्णों में किया जाता है, उसी प्रकार एक वाक्य का विश्लेषण उसके भिन्न-भिन्न शब्दों में किया जाता है। परंतु यह कार्य वैज्ञानिक का है, वक्ता का नहीं। वक्ता एक वाक्य का ही व्यवहार करता है, चाहे वह 'आ' 'जा' और 'हाँ' के समान एक अक्षर अथवा एक शब्द से ही क्यों न बना हो।

वाक्यों के चार भेद

वाक्य के इस प्राधान्य को मानकर समस्त भाषाओं का वाक्य-मूलक, आकृति-मूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण किया जाता है। रूप अथवा रचना की दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होते हैं:—समास-प्रधान, व्यास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और

विभक्ति-प्रधान। वाक्यों का यह भेद वाक्य-रचना अर्थात् वाक्य और उसके अवयव शब्दों के संबंध के आधार पर किया जाता है। जिस वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं उसे समस्त अथवा समास-प्रधान वाक्य कहते हैं। प्रायः ऐसे वाक्य एक समस्त शब्द के समान व्यवहृत होते हैं। जैसे मेक्सिको की भाषा में 'नेवत्ल' 'नकत्ल' और 'क' का क्रमशः 'मैं', 'मांस' और 'खाना' अर्थ होता है। अब यदि तीनों शब्दों का समास कर दें तो नो-नक-क वाक्य बन जाता है जिसका अर्थ होता है 'मैं मांस खाता हूँ'; अथवा उसी को तीन-तीन भाग करके भी कह सकते हैं, जैसे 'निक इन नकत्ल' इस वाक्य में 'निकक' एक समस्त वाक्य है जिसका अर्थ होता है 'मैं उसे खाता हूँ' उसी के आगे उसी के समानाधिकरण्य से नए शब्दों के रखने से दूसरा वाक्य बन जाता है। उत्तर-अमेरिका की चेरोकी भाषा में भी ऐसी ही वाक्य-रचना देख पड़ती है, जैसे नातन (लाना), अमोखल (नाव) और निन (हम) का एक समास-वाक्य बनाकर 'नाधोलिनिन' कहने से यह अर्थ होता है कि 'हमें (हमारे लिये) एक नाव लाओ'।

१. समास-प्रधान वाक्य

दूसरे प्रकार के वाक्य ऐसे होते हैं, जिनमें प्रवृत्ति व्यास की ओर अधिक रहती है। उनके यहाँ धातु जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। सभी शब्द स्वतंत्र रहते हैं। उनके संघात से ही एक वाक्य की पूर्णता होती है। वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का संबंध स्थान, निपात अथवा स्वर के द्वारा प्रकट किया जाता है। अर्थात् संज्ञा, क्रिया या विशेषण आदि सबका रूप एक ही

२. व्यास-प्रधान वाक्य

सा होता है, वाक्य में केवल उनके स्थान से यह निश्चित होता है कि यह शब्द क्या है। इसी कारण ऐसी भाषाओं में रूपात्मक विकार नहीं दिखाई पड़ता। इसके शब्दों के रूप सदा एक से बने रहते हैं। भाषा की इस अवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण चीनी-भाषा है। इस भाषा के शब्दों में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, सब शब्द ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जैसे यदि हम यह कहना चाहें कि 'मैं तुम्हें मारता हूँ' तो चीनी-भाषा में हम कहेंगे 'न्गो ता नी'। इस वाक्य में तीन शब्द हैं। पहले शब्द का अर्थ है 'मैं', दूसरे का 'मारना' और तीसरे का 'तुम्हें'। अब यदि हम कहना चाहें कि 'तुम मुझे मारते हो' तो हमें केवल इन शब्दों का स्थान उलट कर 'नी ता न्गो' कहना होगा। इसी प्रकार यदि हम कहना चाहें कि 'मनुष्य आम खाता है' तो हमको चीनी-भाषा के 'मनुष्य', 'आम' और 'खाना' वाचक शब्द कहने होंगे। मनुष्य शब्द का बहुवचन कहना होगा तो 'मनुष्य' और 'मुंड' के बोधक चीनी शब्द कहेंगे। हिंदी में भी कभी-कभी इसी प्रकार शब्द बनाकर भाव प्रकट किए जाते हैं। जैसे राजालोग, बालकगण, हमलोग आदि। चीनी भाषा के अतिरिक्त बर्मी, स्यामी, अनामी, मलय आदि अनेक भाषाओं की वाक्य-रचना भी प्रायः इसी प्रकार की होती है।

३. प्रत्यय-प्रधान वाक्य

तीसरे प्रकार के वाक्यों में प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। व्याकरण के कारक, लिंग, वचन, काल आदि के सभी भेद प्रत्ययों द्वारा सूचित किए जाते हैं। ऐसे वाक्यों के शब्द न तो बिल्कुल समस्त ही होते हैं और न बिल्कुल पृथक्-पृथक्। शब्द सभी पृथक्-पृथक् रहते हैं। पर कुछ प्रत्यय उनमें लगे रहते हैं, और वे ही उनको दूसरे शब्दों से तथा संपूर्ण वाक्य से जोड़ते

हैं। ऐसे वाक्य में एक शब्द से अनेक प्रत्यय लगाकर अनेक भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ बांतू परिवार की काफिर भाषा के 'उमुंतु बेतु ओमुचिल उयवोनकल' का अर्थ होता है 'हमारा आदमी देखने में भला है'। इसोका बहुवचन 'अंबतु बेतु अबचिल बयबोनकल' होता है। यहाँ न्टू (आदमी), तु (हमारा), चिल (प्रियदर्शन) और यबोनकल (देख पड़ता है) शब्दों की प्रकृतियाँ हैं। इनको तनिक भी विकृत न करते हुए भी प्रत्यय अपना कारक और वचन का भेद दिखला रहे हैं। इसी प्रकार तुर्की भाषा में कारक, वचन आदि प्रत्येक के लिये पृथक् पृथक् प्रत्यय हैं। जैसे 'एव' का अर्थ घर होता है। बहुवचन प्रत्यय जोड़ देने पर 'ऐव-लेर' अनेक घर बन जाता है। उसी में 'मेरा' का वाचक प्रत्यय जोड़ देने से 'एवलेरिम' (मेरे घर) बन जाता है। इस शब्द की कारक रचना देख लेने से प्रत्यय की प्रधानता स्पष्ट झलक जाती है।

चौथे प्रकार के वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें शब्द का परस्पर संबंध—उनका कारक, वचन आदि का व्याकरणिक संबंध—विभक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है।

४. विभक्ति-प्रधान वाक्य

विभक्तियाँ परतंत्र और विकृत प्रत्यय कही जा सकती हैं। विभक्ति-प्रधान वाक्य में प्रत्यय संबंध का ज्ञान कराते हैं, पर वे स्वयं अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इसीसे उनके इस विकृत रूप को विभक्ति कहना अधिक अच्छा होता है। ऐसी विभक्ति-प्रधान वाक्य-रचना संस्कृत-अरबी में प्रचुर मात्रा में मिलती है। जैसे संस्कृत में 'अहं ग्रामं गतवान्' वाक्य में से कारक अथवा लिंग के द्योतक प्रत्यय उनकी प्रकृति से अलग नहीं किए जा सकते।

हम देख चुके हैं कि शब्द भाषण की दृष्टि से विशेष महत्त्व

नहीं रखते, पर वैज्ञानिक दृष्टि से इनके भी चार भेद किए जाते हैं। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी वे अव्यय ही रहते हैं। कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग स्पष्ट दिखाई पड़ता है और कुछ में विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि ही लक्षित होती है। अंत में ऐसे समस्त पद होते हैं जिनमें अनेक पद मिले रहते हैं। पहले प्रकार के शब्द धातु, दूसरे प्रकार के प्रत्यय-प्रधान, तीसरे प्रकार के विभक्ति-प्रधान और चौथे प्रकार के समस्त अथवा वाक्य-शब्द कहे जाते हैं।

शब्दों का भेद

इन चार प्रकार के शब्दों में विकास की चार अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं। पहले शब्द धातु-अवस्था में रहते हैं। फिर थोड़े दिनों में वे घिसकर प्रत्यय बन जाते हैं। वे अकेले वाचक न रहकर दूसरे शब्दों के साथ रहकर उनके विशेष अर्थों का द्योतन करते हैं। इस अवस्था का अतिरेक विभक्ति को जन्म देता है और समस्त शब्दों में मिलता है। यही अंतिम अवस्था शब्द की पूर्णावस्था सी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ 'राम' धातु अवस्था में, 'राम सहित' अथवा 'रामवत्' प्रत्ययावस्था में, 'रामाय' विभक्ति अवस्था में और 'अस्मि' समासावस्था में है। इसी प्रकार वाक्यों के विकास की भी चार अवस्थाएँ पाई जाती हैं। भाषा पहले समासावस्था में रहती है और धीरे-धीरे प्रत्यय और विभक्ति की अवस्था में से होती हुई व्यास-प्रधान हो जाती है। परंतु वैज्ञानिक इतना ही कहते हैं कि संसार की भाषाओं में चार प्रकार की वाक्य-रचना और चार प्रकार की शब्द-रचना दिखाई पड़ती है। अतः रचना अथवा रूप (आकृति) के आधार पर भाषाओं का चार विभागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

विकास की अवस्थाएँ

यद्यपि विद्वानों का यह कथन था कि भाषा वियोग से संयोग की ओर जाती है और फिर घूमकर व्यासोन्मुख हो जाती है। भाषा-चक्र सतत घूमता रहता है, परंतु यह कल्पना प्रमाणों से पुष्ट न हो सकी। अस्तु, भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर रहती है। भाषा प्रारंभिक काल में जटिल, समस्त और स्थूल रहती है। धीरे-धीरे वह सरल, व्यस्त, सूक्ष्म और सुकुमार होती जाती है। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसके ज्वलंत उदाहरण हैं कि किस प्रकार पहले वे संहिति-प्रधान थीं और पीछे धीरे धीरे व्यवहिति-प्रधान हो गई। लिथुआनियन भाषा आज भी पूर्ण रूप से संहित कही जा सकती है। उसकी आकृति और रचना आज तीन हजार वर्षों से अपरिवर्त्तित और स्थिर है। इसका कारण इसकी भौगोलिक स्थिति है। लिथुआनिया की भूमि बड़ी आर्द्र और पंकिल है। दुर्लंघ्य पर्वतों के कारण आक्रमणकारी भी वहाँ जाने की इच्छा नहीं करते और यहाँ का समुद्र तट भी व्यापार के काम का नहीं। इसी कारण यहाँ की भाषा इतनी अक्षुण्ण और अक्षत है।

भाषा-चक्र-संहिति से व्यवहिति

हिब्रू और अरबी भाषाएँ एक ही परिवार की हैं और दो हजार वर्ष पूर्व दोनों ही संहित और संयुक्त थीं। परंतु आज हिब्रू अरबी की अपेक्षा अधिक व्यवहित और व्यास-प्रधान हो गई है। इनके प्राचीन धर्म-ग्रंथों की भाषा तो बिल्कुल सुरक्षित है पर जातीय भाषाएँ कुछ व्यासोन्मुख हो गई हैं। यहूदी सदा विजित और त्रस्त होकर फिरते रहे। इससे इनकी भाषा संघर्ष के कारण अधिक विकसित और व्यवहित हो गई है। पर अरबी सदा विजेताओं की भाषा होने के कारण आज भी बहुत कुछ संहित है।

फारसी का भी बहुत कुछ ऐसा ही इतिहास है। ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व की प्राचीन भाषा वैदिक संस्कृत की नाईं संहित थी। परंतु सिकंदर की चढ़ाई के पीछे की मध्यकालीन फारसी बहुत कुछ व्यवहित और वियुक्त हो गई थी, और आज की फारसी भारोपीय परिवार की सबसे अधिक व्यवहित भाषा मानी जाती है। इसका व्याकरण बहुत ही संक्षिप्त है। इसी प्रकार संस्कृत और अवेस्ता का प्राचीन रूप भी बड़ा संहित था। फिर धीरे-धीरे वह भी व्यवहित हो गया। संस्कृत के परवर्ती रूप प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान देश-भाषाओं में व्यास-प्रधानता की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इस प्रकार भाषा के विकास की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक संहित और दूसरी व्यवहित, और इस दृष्टि से भाषा के ये ही दो वर्ग किए जा सकते हैं।

१. भाषाओं का रूपात्मक वर्गीकरण

भाषाओं का रूपात्मक वर्गीकरण

यद्यपि आज विकास की दृष्टि से भाषा की दो अवस्थाएँ संहित और व्यवहित मानी जाती हैं, तथापि वाक्य और शब्दों की आकृति का विवेचन करने के लिये भाषाओं का रूपात्मक वर्गीकरण उचित समझा जाता है। अतएव रूपात्मक वर्गीकरण चार वर्गों में किया जाता है—व्यास-प्रधान, समास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान। इनमें से पहले को निरवयव और शेष तीनों को सावयव कहते हैं। निरवयव के भेद नहीं होते। सावयव के तीन विभाग किए जाते हैं—समास, प्रत्यय और विभक्ति। इनमें से प्रत्येक के कई उपविभाग होते हैं। कोई भाषा पूर्णतः समास-प्रधान होती है और कोई अंशतः। प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में भी कोई पुरःप्रत्यय-प्रधान होती है,

कोई पर-प्रत्यय-प्रधान और कोई पुरः-प्रत्यय-पर-प्रत्यय-अंत प्रत्यय-प्रधान अर्थात् सर्व-प्रत्यय-प्रधान होती है। कुछ ऐसी भाषाएँ होती हैं जिनमें विभक्ति-प्रधानता, समास-प्रधानता अथवा व्यास-प्रधानता का भी पुट रहता है। इसी प्रकार विभक्ति-प्रधान भाषाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—अंतर्मुख-विभक्ति-प्रधान और बहिर्मुख-विभक्ति-प्रधान। इनमें से प्रत्येक के दो उपभेद होते हैं—संहित और व्यवहित। प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान भाषाओं का एक और विभाग किया जाता है—बहु-संहित और एक-संहित। तुर्की एक-संहित और अरबी बहु-संहित भाषा है। यह विभाग नीचे लिखी सारणी से स्पष्ट हो जायगा—
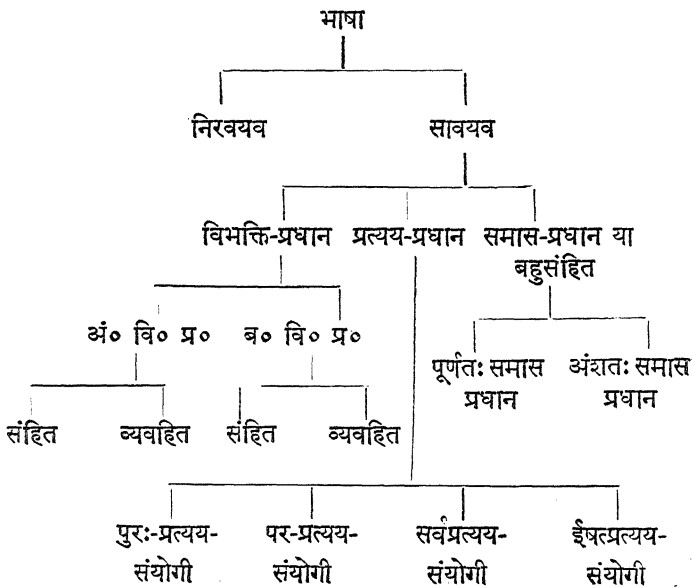
व्यास प्रधान वर्ग में अफ्रीका की सूडानी तथा पूर्वी एशिया की चीनी, तिब्बती, बर्मी, अनामी, स्यामी, मलय आदि भाषाएँ आती हैं। वाक्य-रचना की दृष्टि से इनमें तीन बातों पर विचार हो सकता है—शब्द-क्रम, निपात और स्वर। किसी भी व्यास-प्रधान भाषा में व्याकरणिक संबंध कुछ तो शब्दों के स्थान अथवा क्रम से सूचित होता है और कुछ निपातों की सहायता से। सूडानी स्थान-प्रधान भाषा है, इसमें निपातों का अभाव-सा है। चीनी में निपात कुछ अधिक हैं, फिर भी उसमें स्थान और क्रम ही वाक्य में संबंध को स्पष्ट करता है। बर्मी, तिब्बती आदि निपात प्रधान भाषाएँ हैं। परंतु स्वर की विशेषता इन सभी भाषाओं में रहती है। वाक्य-स्वर और पद-स्वर दोनों से अर्थ-भेद हुआ करता है। इनमें वाक्य-विचार तो होता है, पर शब्द-विचार अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विचार का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि भाषा के सभी स्वर स्वतंत्र होते हैं। वे धातु और प्रातिपदिक के समान निर्योग और प्रधान होते हैं। उनमें कभी कोई विकार नहीं होता। व्यास-प्रधान भाषा के वाक्य में स्वतंत्र और शुद्ध प्रकृति का व्यवहार होता है। इन भाषाओं के शब्द प्रायः एकाच् होते हैं। उनकी रचना एक अक्षर और एक अथवा अनेक व्यंजनों से होती है।

व्यास-प्रधान भाषा-वर्ग

व्यास-प्रधान रचना में वाक्य के सभी शब्द पृथक् पृथक् रहते हैं। समास-प्रधान रचना में इसका ठीक उल्टा होता है। वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि वाक्य और शब्दों में भेद करना कठिन हो जाता है। व्यास-प्रधान वाक्य में जो अर्थ अनेक शब्दों से निकलता

समास-प्रधान अथवा बहु-संहित भाषा-वर्ग

है, उसके लिये समास-प्रधान वाक्य में एक ही शब्द पर्य्याप्त हो जाता है। जैसे 'नाधोलिनिन' एक शब्द से 'हम लोगों के लिये नाव लाओ' इतने बड़े वाक्य का अर्थ निकलता है। दोनों अमेरिका की भाषाएँ इसी प्रकार की पूर्णतः समास-प्रधान हैं।

कुछ भाषाएँ अंशतः ही समास-प्रधान होती हैं। सच्ची समस्त भाषा के एक ही शब्द में कर्त्ता, क्रिया, कर्म, विशेषण आदि सभी का समाहार रहता है। पर कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें स्वतंत्र शब्द भी रहते हैं और वाक्य में पृथक्-पृथक् व्यवहृत भी होते हैं। तो भी वे समास-प्रधान मानी जाती हैं क्योंकि उनकी क्रिया अपने कर्त्ता और कर्म के वाचक सर्वनामों का और कभी-कभी और शब्दों का भी समाहार कर लेती है। यूरोप की बास्क भाषा इसका सुंदर उदाहरण है। उसकी एक क्रिया 'दकर्किआत्' का अर्थ होता है 'मैं उसे उसके पास ले जाता हूँ'। इसी प्रकार 'नर्कसु' का अर्थ होता है 'तू मुझे ले जाता है'। इस प्रकार का आंशिक समास प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान भाषाओं में भी काम में आता है। जैसे संस्कृत का 'अस्मि' (मैं हूँ), 'गच्छामि' (मैं जाता हूँ) अथवा गुजराती का 'मकुंजे' (मैंने कहा कि)।

प्रत्यय-प्रधान भाषा में व्याकरणिक संबंध प्रत्ययों के संयोग से सूचित किया जाता है। यद्यपि ये प्रत्यय सर्वांगपूर्ण नहीं होते, तथापि इनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट रहता है।

प्रत्यय-प्रधान

ये अपनी प्रकृति में सर्वथा लीन नहीं होते। इनका संयोग, संचय अथवा उपचय इतना नियमित और व्यावहारिक होता है कि रचना बिल्कुल पारदर्शी होती है। उसका व्याकरण सर्वथा सरल और सीधा होता है। तुर्की ऐसी अपवाद-रहित और ऋजुमार्गगामिनी भाषा का

व्याकरण एक शीट कागज पर लिखा जा सकता है। यदि हम इस भाषा का एक शब्द 'सेव' जिसका अर्थ 'प्रेम करना' होता है ले लें तो उसमें प्रत्यय जोड़कर अनेक शब्द बनाए जा सकते हैं सेव-मेक् (प्यार करने के लिये), सेव-मे-मेक (प्यार नहीं करने के लिये), सेव-इश-मेक (एक दूसरे को परस्पर प्यार करने के लिये) इत्यादि। ऐसी साधारण रचना के अतिरिक्त सेव-इश-दिर इल्-मे-मेक (परस्पर प्यार नहीं किए जाने के लिये) के समान बहु-संहित रूप भी सहज ही निष्पन्न हो जाते हैं।

प्रत्यय-प्रधान भाषा में विभक्ति-प्रधान भाषा की तरह न तो प्रकृति और प्रत्यय का भेद सर्वथा लुप्त हो जाता है, और न प्रत्यय में ही कोई विकार होता है। यदि संयोग से किसी प्रत्यय में कोई विकार भी होता है तो वह भी स्वरों की अनुरूपता (Vowel-Harmony) के नियम से होता है। अर्थात् प्रत्यय का स्वर प्रकृति के अंतिम स्वर के अनुरूप होना चाहिए जैसे 'अत्' (घोड़ा) और 'एव' (घर) में एक ही बहुवचन का प्रत्यय दो भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है जैसे—'अत्लर' (घोड़े) और 'एवलेर' (अनेक घर)।

प्रत्यय-प्रधान भाषाओं के चार उपविभाग किए जाते हैं—पुरः-प्रत्यय-प्रधान, पर-प्रत्यय-प्रधान, सर्व-प्रत्यय-प्रधान और ईषत् प्रत्यय-प्रधान। अफ्रीका की बांतू परिवार की भाषाएँ पुरः-प्रत्यय-प्रधान होती हैं, अर्थात् प्रकृति के पूर्व प्रत्यय लगता है। यूराल आल्टिक और द्राविड़ परिवार की भाषाएँ परः-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। यूराल-आल्टिक परिवार की तुर्की भाषा के उदाहरण पीछे आ चुके हैं। यहाँ पर द्राविड़ का उदाहरण दे देना उचित होगा और संस्कृत के साथ तुलना करने पर विभक्ति-प्रधान और प्रत्यय-प्रधान रचना का भेद भी स्पष्ट हो जायगा।

शब्द—'सेवक'

कारक	संस्कृत (बहु०)	कन्नड़ी (बहु०)
कर्त्ता	सेवकाः	सेवक-रु
कर्म	सेवकान्	सेवक-रन्नु
करण	सेवकैः	सेवक-रिंद
संप्रदान	सेवकेभ्यः	सेवक-रिगे
अपादान	सेवकेभ्यः	
संबंध	सेवकानाम्	सेवक-र
अधिकरण	सेवकेषु	सेवक-रल्ली

कन्नड़ी के इन सब रूपों में 'र' बहुवचन का चिह्न है। इसके स्थान पर 'न' कर देने से एकवचन के रूप बन जाते हैं।

मलयन और मलनेशिया परिवार की भाषाएँ सर्व-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। उनकी रचना में सभी प्रत्ययों का संयोग दिखाई पड़ता है।

जिन भाषाओं में प्रत्यय-प्रधानता के साथ व्यास, समास अथवा विभक्ति का भी पुट रहता है, वे ईषत्-प्रत्यय-प्रधान कहलाती हैं। इनमें अनेक भाषाएँ हैं। जापानी और काकेशी भाषाओं में विभक्ति की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है। हाउसा का व्यास की ओर और वास्क परिवार की भाषाओं का समास की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है।

विभक्ति-प्रधान

प्रत्यय-प्रधान भाषा की तरह विभक्ति-प्रधान भाषा में भी प्रत्ययों के द्वारा ही व्याकरणिक संबंध का बोध होता है। परंतु एक अंतर यह है कि विभक्ति-प्रधान रचना में प्रकृति और प्रत्यय का एक दूसरे में पूर्णतया समाहार हो जाता है, यहाँ तक कि कभी-

कभी प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता।

अस्तु, इस वर्ग की भाषा का प्रधान लक्षण प्रकृति और प्रत्यय का अभेद है। ऐसी रचना में अपवाद और व्यत्यय की भी प्रधानता रहती है। इसी कारण इनमें विविधता और जटिलता भी अधिक रहती है। फलतः इसका व्याकरण भी अधिक विशाल और विस्तृत होता है।

इस वर्ग के दो उपविभाग होते हैं। अंतर्मुख-विभक्ति-प्रधान और बहिर्मुख-विभक्ति-प्रधान। सेमेटिक और हेमेटिक परिवार की भाषाएँ अंतर्मुख-विभक्ति-प्रधान होती हैं और भारोपीय-परिवार की बहिर्मुख-विभक्ति-प्रधान। अंतर्मुख-विभक्ति-संपन्न भाषा में पूर्व-विभक्तियाँ, अंतःविभक्तियाँ और पर-विभक्तियाँ होती तो हैं, पर वास्तव में व्याकरणिक संबंध शब्द के भीतर होनेवाले स्वर परिवर्तन से ही सूचित होता है। जैसे 'क़त्ल' अरबी की एक धातु है, उससे 'क़तल' (उसने मारा), 'क़ुतिल' (वह मारा गया), 'यक़्तुलु' (वह मारता है), क़ातिल (मारनेवाला), क़ित्ल (शत्रु) क़ितल (प्रहार, चोट) आदि अनेक रूप स्वरों के परिवर्तन करने से ही बन जाते हैं। व्यंजन वहीं के वहीं रहते हैं। सेमेटिक परिवार के अतिरिक्त हेमेटिक परिवार में भी यही लक्षण बहुत कुछ मिलते हैं। इन भाषाओं में भी संहित से व्यवहित होने की स्पष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है।

दूसरे उपविभाग में सुप्रसिद्ध भारोपीय-परिवार आता है। यहाँ विभक्तियाँ बहिर्मुख और प्रायः परिवर्तिनी होती हैं। इन भाषाओं की धातुएँ न तो त्रैवर्णिक ही होती हैं और न व्याकरणिक संबंध ही अंतरंग स्वर-भेद द्वारा प्रकट होता है। इसी से इनमें पर-विभक्तियों का अधिक व्यवहार होता है। किंतु संहित की प्रवृत्ति इनमें भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस परिवार की

एक विशेषता अक्षरावस्थान भी है। इस परिवार की विभक्तियों और प्रत्ययों की संपत्ति सबसे अधिक है। संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि विभक्ति-प्रधान भाषाओं के उदाहरण यहाँ गिनाने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भारोपीय-परिवार के वर्णन में इनके अनेक उदाहरण मिलेंगे। परंतु इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि भारोपीय भाषाओं के विकसित रूपों को विद्वान् पूर्णतः विभक्ति-प्रधान नहीं मानते।

हिंदी का स्थान

अँगरेजी और हिंदी जैसी आधुनिक भारोपीय भाषाएँ इतनी व्यवहित होती हैं कि उनमें व्यास और संयोग के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इसी से अँगरेजी को व्यवहित-विभक्ति-प्रधान भाषा कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं, अर्थात् इनके व्यास और प्रत्यय-संयोग के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं। विभक्ति के लक्षण थोड़े मिलते हैं। हिंदी के विषय में भी ठीक यही कहा जा सकता है।

२. वंशानुक्रम वर्गीकरण

भाषा में निरंतर परिवर्तन

सब भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और एक मुख्य भाषा में प्रायः उतने ही विभेद हो जाते हैं जितने उसके बोलनेवालों के समुदाय होते हैं। हम यह जानते हैं कि भाषण का अवलंब कुछ प्राकृतिक तथा मानसिक क्रियाएँ होती हैं और मनुष्य-मात्र में इन क्रियाओं का एक सा होना सर्वथा असंभव है। दूसरे जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाषा एक प्रकार की अर्जित संपत्ति है। इसके अर्जन में कुछ पुराने तथ्य लुप्त हो जाते हैं और कुछ नए तथ्यों का आविर्भाव हो जाता

है, क्योंकि किसी संपत्ति का अर्जन करना अर्जनकर्ता की योग्यता तथा स्थिति पर निर्भर रहता है। इसी प्रकार भाषा के अर्जन पर भी प्रत्येक मनुष्य की सुनने और बोलने की योग्यता तथा उसकी भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति के भाषण के भावों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के तीन मुख्य कारण हैं—(१) प्रत्येक अनुभव या चित्त का संस्कार, यदि वह बार-बार न हो अथवा ज्ञानावस्था में उसकी उद्धरणी न हो तो, क्रमशः क्षीण पड़ता जाता है, (२) बोलने, सुनने और विचार करने की प्रत्येक क्रिया से भाषण-संपत्ति के भंडार में कुछ न कुछ वृद्धि होती जाती है, और (३) भाषण-तत्वों के दृढ़ होने तथा उनमें नए तत्वों के आ जाने से नाद-यंत्रों की अवस्था में सदा परिवर्तन होता रहता है। इन कारणों से प्रत्येक बोलनेवाले की भाषा दूसरे बोलनेवालों की भाषा से कुछ न कुछ भिन्न होनी ही चाहिए। यदि इन प्रवृत्तियों में रुकावटें न उपस्थित हों तो किसी एक मुख्य भाषा की उतनी ही सजातीय बोलियाँ हो जायँ जितनी संख्या उस मुख्य भाषा के बोलनेवालों की होगी। परंतु मनुष्य को सदा इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि वह अपना भाव दूसरों को समझावे और दूसरों का भाव आप समझे। इस आवश्यकता के कारण उसके भाषण की परिवर्तनशील प्रकृति में रुकावटें उपस्थित होती रहती हैं और भाषाओं के उपविभागों की संख्या अपरिमित नहीं होने पाती।

अतएव हम कह सकते हैं कि बोली मनुष्यों के एक विशिष्ट समुदाय की भाषा है जिसे उस समुदाय के सब मनुष्य भली-भाँति समझते हैं। उसके द्वारा उनमें परस्पर भावों और विचारों का विनिमय हुआ करता है। यद्यपि भाषण में प्रत्येक

मनुष्य की कोई न कोई विशेषता होती है, परंतु उन विशेषताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति के भाषण को 'बोली' कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त होता। भिन्न-भिन्न सामाजिक,

विभेदता में एकता

धार्मिक, राजनीतिक या व्यापारिक संप्रदायों के लोगों के परस्पर भाषण में मुख्य भाषा से जो विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है उसी को बोली कहते हैं। एक ब्राह्मण 'एकादशी' शब्द का प्रयोग करता है। साधारण जन-समुदाय में भी 'एकादशी' शब्द प्रयुक्त होता है। अपढ़ लोगों में 'एकादसी' या 'इकासती' शब्द चलता है। इसी प्रकार 'अष्टमी' का 'असटमी' 'असमटी' या 'आठैं' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द वास्तव में एक ही हैं, पर भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों में इन्होंने भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिया है। संप्रदाय-भेद के कारण एक ही भाव के बोध के लिये अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। साधारण लोग 'भोजन करना' या 'खाना' शब्द का प्रयोग करते हैं, पर वैष्णव-मंडली में इसी भाव को प्रकट करने के लिये 'प्रसाद पाना' कहा जाता है। इसी प्रकार नमक के लिये 'रामरस' और पीली मिट्टी के लिये 'रामरज' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। शिक्षा और शिष्टता एक ओर तो भाषा में विभेद उत्पन्न करती है और दूसरी ओर राष्ट्रीय भावों का उदय करके एकता स्थापित करने में सहायक होती है। एक शिक्षित पुरुष 'व्यक्तिगत-भाव' 'निसर्गसिद्ध-अधिकार', 'प्राकृतिक-सौंदर्य' 'भाव-विवेचन', 'साम्यवाद' आदि शब्दों का भाव जितनी सुगमता से समझ सकेगा, उतनी सुगमता से दूसरे लोग नहीं समझ सकेंगे। परंतु इन विभेदों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न बोलियों का स्रोत एक मूल-भाषा में होता है। उसी से भिन्न-भिन्न बोलियाँ या देशभाषाएं क्रमशः

परिवर्तित होकर निकलती हैं। 'हम' का भाव प्रकट करने के लिये गुजराती में 'अमे', मराठी में 'आह्मी' बँगला में 'आमि' शब्द प्रयुक्त होते हैं। खोज करने पर इसका पता चल जाता है कि ये सब संस्कृत के 'अस्मद्' शब्द से निकले हैं। इसी प्रकार बहिन के लिये मराठी में 'बहीण', गुजराती में 'बेहेण', पंजाबी में 'भैण' शब्द चलते हैं, पर सब निकले हैं संस्कृत के 'भगिनी' शब्द से। अतएव यह प्रकट होता है कि इस प्रत्यक्ष विभेदता में भी अगोचर रूप से एकता छिपी पड़ी है, अर्थात् भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले यद्यपि एक दूसरे से इस समय सर्वथा अलग-अलग जान पड़ते हैं, पर वास्तव में वे एक ही मूल वा स्रोत से निकले हैं। यह मूल-भाषा संस्कृत है, और वह जाति जिससे इस समय भारतवर्ष में इतनी अधिक जातियाँ और उपजातियाँ हो गई हैं 'आर्य' जाति है।

वंशानुसार भाषाओं का वर्गीकरण

परंतु यहीं पर यह अनुसंधान समाप्त नहीं होता। जब हम कई भाषाओं की परस्पर तुलना करते हैं तब हम उनमें बहुत सी समानताएँ पाते हैं। कुछ भाषाओं के शब्द-भांडार, वाक्यान्वय, रूप आदि में इतना साम्य रहता है कि उनकी सजातीयता अर्थात् उन्हें किसी एक प्राचीन भाषा की सन्तान मान लेने में कोई संकोच नहीं होता। पर इस प्रकार का संबंध स्थापित करने में बहुत विवेक से काम लेना चाहिए, क्योंकि केवल कुछ शब्दों के साम्य से ही दो भाषाओं को एक प्राचीन भाषा की सन्तान मान लेना भ्रमात्मक एवं मूर्खतापूर्ण कार्य होगा। अँगरेजी में लैटिन और ग्रीक शब्दों का आधिक्य देखकर यह न कहना चाहिए कि अँगरेजी भाषा लैटिन या ग्रीक से उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार प्राचीन काल के भाषा-वैज्ञानिक फारसी में अरबी शब्दों का

आधिक्य देखकर उसे सेमेटिक वर्ग की भाषा मानकर भ्रम में पड़े हुए थे। यूरोप के प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक संसार की सब भाषाओं को हिब्रू भाषा से उत्पन्न मानकर शब्दों की ऊटपटाँग व्युत्पत्तियाँ निकाला करते थे। परंतु थोड़े से अध्ययन और तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे भारत की पंजाबी, हिंदी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं की परस्पर तुलना करने से यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है कि ये सब भाषाएँ सजातीय हैं और इनकी उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है।

इसके अतिरिक्त भाषाओं के इस प्रकार के वंशनिर्णय करने के लिये विद्वानों के कुछ सिद्धांत बनाये हैं। उनका कहना है कि निकट संबंधी व्यक्तियों—जैसे माता, पिता, भाई, बहिन इत्यादि के लिये प्रयुक्त शब्द, सर्वनाम, संख्याओं के नाम तथा नित्य व्यवहार की वस्तुओं के नाम जिन भाषाओं में समान हों, वे एक सामान्य भाषा से उत्पन्न मानी जा सकती हैं। नीचे कुछ भाषाओं के परस्पर संबद्ध शब्दों के उदाहरण दिये जाते हैं:—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	जर्मन	पु० अँग०	आ० अँग०	फारसी
पितृ (पितर)	Pater	Pater	Vater	Fæder	Father	**पिदर**
मातृ (माता)	Mater	Meter	Mutter	Modor	Mother	**मादर**
भ्रातृ (भ्रात)	Frater	Phrater	Bruder	Brothor	Brother	**बिरादर**

ऐसे शब्दों को देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि ये भाषाएँ परस्पर किसी न किसी रूप में संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त आलोच्य भाषाओं के व्याकरण की समानता भी परस्पर संबंध का परिचायक है। व्याकरण के नियमों का सादृश्य ढूँढ़ते समय सब भाषाओं के व्याकरणों का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है; क्योंकि व्याकरण के नियम भी शाश्वत नहीं हैं; उनमें समया-

नुसार परिवर्तन हुआ करता है। जो भाषा एक समय संयोगावस्था में है उसी का विकसित रूप वियोगावस्था को प्राप्त हो जाता है। संस्कृत से लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं की तुलना हो सकती है, पर उसी के विकसित रूप हिंदी से उक्त भाषाओं की तुलना कठिन है। अतएव इस विषय में इतिहास की सहायता अनिवार्य है।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने संसार भर की भाषाओं का अध्ययन करके उनके परस्पर संबंध का पता लगाया है, और उनको वंश के अनुसार परिवारों में विभाजित किया है, उनमें भारोपीय, सेमेटिक, हेमेटिक, यूरात-अल्ताई, द्राविड़, एकाक्षर (चीनी परिवार), काकेशस, बांतु आदि प्रसिद्ध भाषा-परिवार हैं।

इस प्रकार भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण करने में सरलता, स्पष्टता और सुविधा की दृष्टि से भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखना अच्छा होता है। इस दृष्टि

अमेरिका खंड

से विश्व के चार खंड होते हैं—(१ दोनों अमेरिका, (२) प्रशांत महासागर, (३) अफ्रीका और (४) यूरेशिया। दोनों अमेरिका भाषा की दृष्टि से जगत् से सर्वथा भिन्न माने जा सकते हैं। इस परिवार की भाषाओं की साधारण विशेषता यह है कि इनकी रचना समास-प्रधान होती है। उनकी प्रायः सभी अवस्थाएँ पाई जाती हैं। इस खंड की प्रधान भाषाओं का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—उत्तरी अमेरिका के पाँच देशों—ग्रीनलैंड, कनेडा, संयुक्त राज्य, मेक्सिको और यूकतन—में क्रमशः एस्किमो, अथबास्कन, अल्गोंकिन, इरोकाइस, आधुनिक-भाषाएँ तथा नहुआतूल्स और मय भाषाएँ हैं। मध्य अमेरिका में कोई वर्गीकरण नहीं है।

दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी भाग में कारिब और अरवाक, मध्य-देश में गुआर्नी-तूपी, पश्चिमी भाग में किचुआ और अरौकन और दक्षिणी भाग में चाको और तीराडेल-फुआगो भाषाएँ हैं। इन भाषाओं में तीराडेल और फुआगो जैसी असंस्कृत भाषाओं से लेकर मय और नहुआतूल्स जैसी साहित्यिक और संस्कृत भाषाएँ भी हैं जो प्राचीन मेक्सिको साम्राज्य में व्यवहृत होती थीं।

इस दूसरे खंड में भी अनेक भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँ हैं। ये प्रायः संयोगी होती हैं। इनके पाँच मुख्य परिवार है—मलयन, मेलानेसिअन, थालीनेसिअन, पापुअन और आस्ट्रेलियन। तीसरे खंड में अफ्रीका की सब भाषाएँ आती है। इनके भी पाँच मुख्य परिवार हैं—बुशमान, बांतू, सूडान, हेमेटिक और सेमेटिक। बुशमान-परिवार की भाषाएँ दक्षिण अफ्रीका में बोली जाती हैं। ये संयोग-प्रधान से व्यास-प्रधान हो रही हैं। इनमें लिंग-भेद केवल सजीव और निर्जीव का भेद ही सूचित करता है। भूमध्य-रेखा के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक बांतू परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं। ये भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। इनमें व्याकरणिक लिंग का अभाव रहता है। भूमध्य-रेखा के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक सूडान परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये व्यास-प्रधान हैं और इनकी धातुएँ एकाक्षर होती हैं। इनमें भी लिंग भेद का अभाव रहता है। इस परिवार की चार शाखाएँ हैं—मिस्रदेशी, इथियोपी, मिश्रित और विकृत बोलियाँ और फूला भाषाएँ।

प्रशांत महासागर खंड और अफ्रीका खंड

इनमें से मिस्री शाखा की प्राचीन मिस्री और उससे निकली हुई काप्टिक भाषा दोनों ही अब प्राचीन लेखों में रक्षित हैं। वे अब बोली नहीं जातीं। उनके क्षेत्र में अब सेमेटिक परिवार की

अरबी भाषा बोली जाती है। इसी प्रकार इथिओपी शाखा की लिबिअन और नुमिदिअन बोलियाँ भी अब जीवित नहीं हैं, उनका अस्तित्व शिलालेखों में पाया जाता है। शेष अर्थात् बर्बर तथा अन्य भाषाएँ (टावारेक और शिल्हा) अभी तक बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस शाखा में की खामीर (एबिसीनिया) सोमाली, गल्ला, सहो आदि बोलियाँ भी हैं। तीसरी शाखा में हाउसा, साई और नम बोलियाँ हैं। इस परिवार के सामान्य लक्षणों में विभक्ति, काल, लिंग, वचन आदि का नाम लिया जा सकता है। इन भाषाओं में पूर्व-विभक्तियाँ और पर-विभक्तियाँ दोनों ही होती हैं। लिंग भी सेमेटिक परिवार की नाई व्याकरणिक होता है अर्थात् लिंग-भेद का कोई प्राकृतिक कारण होना आवश्यक नहीं होता। इन भाषाओं में बहुवचन के भिन्न-भिन्न रूप तो होते ही हैं, किसी-किसी भाषा में द्विवचन भी देख पड़ता है। इस प्रकार अनेक बातों में भाषाएँ सेमेटिक भाषाओं से मिलती हैं।

अफ्रीका का पाँचवाँ भाषा परिवार है सेमेटिक। इस परिवार की अरबी भाषा मुसलमान विजेताओं के साथ उत्तर अफ्रीका में आई थी। अब वह मोरक्को से लेकर स्वेज तक सारे मिस्र देश में बोली जाती है। अलजीरिया और मोरक्को में वही राजकाज की भाषा है। इस भाषा ने अरब की अन्य भाषाओं पर भी बड़ा प्रभाव डाला है। मुसलमानों के पहले ही यहाँ सेमेटिक भाषा आ गई थी, जिसकी वंशज भाषाएँ एबीसोनिया और कार्थेज में मिलती हैं।

यूरेशिया खंड की भाषाएँ सबसे अधिक महत्त्व की हैं। यहाँ की भाषाओं में संसार की बड़ी-बड़ी उन्नत जातियों की सभ्यता

यूरेशिया खंड की भाषाएँ

और संस्कृति निहित है। इन भाषाओं में ही संसार का प्राचीनतम साहित्य पाया जाता है। ये अतीत में भी और आज भी विश्व-भाषा अथवा संसार के सबसे बड़े जनसमुदाय की राष्ट्रभाषा होने का पद प्राप्त कर चुकी है। यहाँ की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत और साहित्यिक रूप में मिलती हैं और उनके बोलेजानेवाले रूप भी प्रायः मिलते हैं। इन भाषाओं का अध्ययन और अनुशीलन भी अधिक हुआ है और इसलिये उनका सविस्तर वर्गीकरण किया जा सकता है। फिर भी कुछ ऐसी भाषाएँ और बोलियाँ मिलती हैं जो किसी एक परिवार के अंतर्गत नहीं आ सकतीं। ऐसी मृत और जीवित सभी भाषाओं को एक वैविध समुदाय में रख दिया जाता है और इस प्रकार यूरेशिया में सात प्रधान भाषा-परिवार माने जाते हैं। (१) वैविध समुदाय, (२) यूराल-अल्ताई परिवार, (३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार, (४) द्राविड़ परिवार, (५) काकेशस परिवार, (६) सेमेटिक परिवार, (७) आरोपीय परिवार।

(१) वैविध समुदाय

इस समुदाय में दो प्राचीन और मृत भाषाएँ भी आती हैं। उनमें से पहली इटली की प्राचीन भाषा (क) एट्रस्कन है। रोम की स्थापना के पहले वहाँ इसका व्यवहार होता था। इस भाषा में लिखे कुछ शिलालेख और एक पुस्तक भी मिलती है। ऐसी ही दूसरी प्राचीन भाषा (ख) सुमेरियन है। यद्यपि यह भाषा ईसा से सात सौ वर्ष पहले ही मृतप्राय हो चुकी थी, तथापि इसका विशाल साहित्य असीरियन विद्वानों की कृपा से रक्षित रह गया। सुमेरियन लोग बेबीलोन के शासक थे, और उनकी संस्कृति तथा सभ्यता इतनी सुन्दर थी कि उनके उत्तराधिकारी असीरियन

लोगों ने भी उसका त्याग नहीं किया। असीरियन विद्वानों ने उसके विशाल वाङ्मय का अध्ययन किया और टीका-टिप्पणी के अतिरिक्त उस भाषा के व्याकरण और कोश भी लिखे, अतः असीरियन अनुवाद सहित अनेक सुमेरियन ग्रंथ आज भी मिलते हैं। यह भाषा प्रायः प्रत्यय-प्रधान है।

आधुनिक जीवित भाषाओं में से (क) बास्क भाषा (फ्रांस और स्पेन की सीमा पर) वेस्ट पिरेनीज में बोली जाती है। यह भाषा संयोग-प्रधान है और इसकी क्रिया थोड़ी बहुसंहित होती है। इस भाषा के सर्वनाम सेमेटिक और हेमेटिक सर्वनामों से मिलते से हैं और लिंग-भेद केवल क्रियाओं में होता है। समास बनते हैं पर समास-प्रधान भाषाओं की नाईं इसके समासों में भी समस्त शब्दों के कई अंश लुप्त हो जाते हैं। शब्द-भांडार बहुत छोटा और हीन है कभी-कभी बहन के समान संबंधियों के लिये भी शब्द नहीं मिलते। वाक्य-विचार बड़ा सरल होता है। क्रिया प्रायः अंत में आती है। इस समुदाय की दूसरी जीवित भाषा (ख) जापानी है। इसमें परः-प्रत्यय-प्रधानता तो मिलती है, पर दूसरे लक्षण नहीं मिलते। यह बड़ी उन्नत भाषा है। इस पर चीनी भाषा और संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार (ग) कोरियाई भाषा भी यूराल-अल्ताई परिवार में निश्चित रूप से नहीं रखी जा सकती। यद्यपि कोरिया की राज-भाषा तो चीनी है पर लोक-भाषा यही कोरियाई है।

इस परिवार की कुछ भाषाएँ, जिन्हें (घ) हाइपर बोरी कहते हैं, एशिया के उत्तर-पूर्वी किनारे पर लेना नदी के पूरब से दक्षिण में सखालिन तक व्यवहार में आती हैं।

भाषा-विज्ञान के आरंभिक काल में विद्वानों ने भारोपीय (Indo-European) और सेमेटिक के अतिरिक्त एक तीसरे

(२) यूराल-अल्ताई परिवार

परिवार 'तूरानी' की कल्पना की थी और इस तीसरे परिवार में वे तुर्की, चीनी आदि उन सभी भाषाओं को रख देते थे जो उन दोनों परिवारों में नहीं आ सकती थी, पर अब अधिक खोज होने पर यह नाम (तूरानी) छोड़ दिया गया है और अब तुर्की भाषा से संबंध रखनेवाले परिवार का दूसरा नाम यूराल-अल्ताई परिवार ही ठीक समझा जाता है।

यूराल-अल्ताई परिवार के क्षेत्र से आगे बढ़कर एशिया के पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी भाग में एकाक्षर भाषाएँ बोली जाती हैं।

(३) एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

भारोपीय परिवार को छोड़कर इसी परिवार के वक्ता संख्या में सबसे अधिक हैं। यह परिवार बड़ा ही संहित और संश्लिष्ट भाषा समुदाय है। इस परिवार में चीनी भाषा प्रधान होने से उसी के नाम से इस परिवार का नाम पड़ गया है और कुछ भाषाओं के भारत में होने से इस परिवार को लोग भारत-चीनी (Indo-Chinese) भी कहते हैं। इसके मुख्य भेद चार हैं:—(१) अनामी, (२) स्यामी, (३) तिब्बत-बर्मी और (४) चीनी।

इनमें से अनामी और स्यामी पर चीनी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है और चीनी के समान ही वे एकाक्षर, स्थान-प्रधान तथा स्वर-प्रधान भाषाएँ हैं। तिब्बती और बर्मी भाषाओं पर भारतीय भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी लिपि तक ब्राह्मी से निकली है और तिब्बती (भोट) भाषा में तो संस्कृत और पाली के अनेक ग्रंथ अनुवादित भरे पड़े हैं। इन तीनों वर्गों की अपेक्षा चीनी का महत्व अधिक है। वही एकाक्षर और व्यास-प्रधान भाषा का आदर्श उदाहरण मानी जाती है। वह

पाँच हजार वर्षों की पुरानी संस्कृति और सभ्यता का खजाना है, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों और भावों तक के अभिव्यक्त करने की शक्ति है। उसकी लिपि भी निराली है। उसमें एक शब्द के लिये एक प्रतीक होता है। उसमें व्याकरण की प्रक्रिया का भी अभाव ही है। स्वर और स्थान का प्राधान्य तो चीनी का साधारण लक्षण है।

(४) द्राविड़ परिवार

द्राविड़ परिवार भारत में ही सीमित है। भारत की अन्य भाषाओं से उसका इतना घनिष्ठ संबंध है कि उसका वर्णन भारत की भाषाओं के प्रकरण में ही करना अच्छा होगा।

(५) काकेशस परिवार

काकेशस परिवार की भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय और पर-प्रत्यय दोनों का संचय करती हैं। अतः अब निश्चित रूप से वे संयोग-प्रधान-भाषाएँ मानी जाती हैं। इनकी रचना इतनी जटिल होती है कि पहले विद्वान् इन्हें विभक्ति-प्रधान समझा करते थे और इनकी विभाषाएँ और बोलियाँ एक दूसरे से इतनी कम मिलती हैं कि कभी कभी यह संदेह होने लगता है कि ये एक परिवार की हैं या नहीं। इस परिवार के दो विभाग किये जाते हैं:—(१) उत्तरी काकेशस और (२) दक्षिणी काकेशस। उत्तरी विभाग में में किरकासियन, किस्तियन, लेश्घियन तथा अन्य विभाषाएँ हैं। दक्षिणी में जार्जियन, सुआनियन, मिंग्रेलियन तथा अन्य विभाषाएँ हैं।

वक्ताओं की दृष्टि से चीनी परिवार बड़ा है पर राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृष्टि से सेमेटिक परिवार उससे भी अधिक महत्व का है। केवल भारोपीय परिवार सभी बातों में इससे बड़ा है।

(६) सेमेटिक परिवार

सेमेटिक परिवार की भाषाओं ने संसार की अनेक जातियों को लिपि की कला सिखाई है। केवल भारत और चीन की लिपि अपनी निजी और स्वदेशी कही जा सकती है। भारत की भी खरोष्ठी आदि कई लिपियाँ सेमेटिक मूल से निकली हैं। कुछ विद्वान् ब्राह्मी को भी सेमेटिक से उत्पन्न बतलाते हैं। इन भाषाओं की सबसे पहली विशेषता यह है कि इनकी धातुएँ तीन व्यंजनों से बनती हैं, उनमें स्वर एक भी नहीं रहता और उच्चारण के लिये जिन स्वरों अर्थात् अक्षरों का व्यवहार होता है वे ही वाक्य-रचना को जन्म देते हैं। इन भाषाओं के रूप स्वरों के विकार से ही उत्पन्न होते हैं। इन स्वरों के द्वारा ही मात्रा, संख्या, स्थान, कारक आदि बातों का बोध होता है, अर्थात् इन सेमेटिक भाषाओं में विभक्तियाँ अंतर्मुखी होती हैं। अतः विभक्तियों के साथ ही पूर्व और पर विभक्तियों का भी व्यवहार होता है। जैसे 'कत्ब्' (लिखना) तीन व्यंजनों की एक धातु है, इससे 'अक्तब' (उसने लिखवाया), 'कतबत्' (उसने लिखा), 'तक्तुबू' (वह लिखती है), 'कतब्ना' (हमने लिखा) और 'ताक्तूबू' (हम लिखते हैं) आदि अनेक रूप बन जाते हैं।

इन भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इनमें हेमेटिक और भारोपीय परिवार की नाईं व्याकरणिक लिंग भेद होता है। इनमें कारक तीन ही होते हैं—कर्ता, कर्म और संबंध। अंतिम दो कारकों की विभक्तियों द्वारा सभी अवशिष्ट विभक्तियों का काम चल जाता है। सेमेटिक की एक विचित्रता यह भी है कि कुछ सर्वनाम क्रियाओं के अंत में जोड़ दिए जाते हैं, जैसे-'दरब-नी' (उसने मुझे मारा), 'कतब-ई (मेरी किताब) इत्यादि। पर सेमेटिक में वैसे समास नहीं बनते जैसे भारोपीय भाषाओं

में पाए जाते हैं। इस परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी भाषाओं में परस्पर बहुत कम अंतर पाया जाता है। अन्य परिवार की भाषाएँ एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़ती हैं पर इस परिवार की भाषाओं में थोड़े ध्वनि-विकार-जन्य भेदों को छोड़ कर कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। कुछ भाषाएँ बहु-संहित से व्यवहित हो गई हैं पर इससे कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं हो गया है।

सेमेटिक परिवार के दो विभाग किए जा सकते हैं—उत्तरी सेमेटिक और दक्षिणी सेमेटिक। उत्तरी सेमेटिक में असीरियो और केनानिटिक और दक्षिणो सेमेटिक में अरबी तथा जोक्तानिद (अबीसीनियन) भाषाएँ आती हैं।

साहित्यिक अरबी सेमेटिक भाषा को प्रतिनिधि है, यह मध्य अरब की कुरया जाति की बोली थी। इसको कुरान और इस्लाम धर्म ने अधिक उन्नत और साहित्यिक बना दिया।

अब यूरेशिया का ही नहीं, विश्व का भी सब से बड़ा भाषा परिवार सामने आता है। इस भारोपीय * (भारत-यूरोपीय) परिवार के बोलने वाले भी सब से अधिक हैं और इसका साहित्यिक और धार्मिक महत्व भी सब से अधिक है। इस परिवार का अध्ययन भी सब से अधिक हुआ है।

(७) भारोपीय परिवार

इसकी विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के

* इस परिवार के अन्य नाम भी प्रचलित हैं, यथा—आर्य (Aryan) भारत-जर्मनीय (Indo-German) इसके अतिरिक्त इंडो-कैल्टिक, संस्कृतिक और काकेशियन नाम भी प्रयोग में आए, परन्तु आज भारोपीय नाम ही अधिक स्वीकृत है।

अंत में लगती हैं। इस परिवार की प्रायः सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही है। इनकी धातुएँ प्रायः एकाच् अर्थात् एकाक्षर होती हैं और उनमें कृत् और तद्धित प्रत्यय लगने से अनेक रूप बनते हैं। इसमें पूर्व-विभक्तियाँ अथवा पूर्व-सर्ग नहीं होते। उपसर्ग होते हैं पर उनका वाक्य के अन्वय से कोई संबंध नहीं होता। पर सेमेटिक भाषाओं में ऐसी पूर्व-विभक्तियाँ होती हैं जो वाक्य का अन्वय सूचित करती हैं। इस परिवार में विशुद्ध समास-रचना की विशेष शक्ति पाई जाती है, जो अन्य सेमेटिक परिवारों में नहीं होती। इसी प्रकार अक्षरावस्थान इस परिवार की अपनी विलक्षणता है। यद्यपि सेमेटिक में भी इससे मिलती-जुलती बात देख पड़ती है पर दोनों के कारणों में बड़ा अंतर है। भारोपीय-भाषा के अक्षरावस्थान का कारण स्वर अथवा बल होता है और सेमेटिक अपश्रुति वाक्य के अन्वय से संबंध रखती है।

इस परिवार की भाषाओं में सभी प्रकार के संबंधों के लिये विभक्तियाँ आवश्यक होने के कारण विभक्तियों का भी अनुपम बाहुल्य हो गया है। इस परिवार में सेमेटिक के समान एकता न होने के कारण उन विभक्तियों में नित्य नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। इससे इनमें विभक्तियों की संपत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है।

इस भारोपीय परिवार में प्रधान, नव वर्ग अथवा शाखाएँ मानी जाती है—कैल्टिक, जर्मनिक, इटालिक (लैटिन), ग्रीक (हैलेनिक) तोखारी, अल्बेनियन (इलीरिअन), लैटोस्लाव्हिक (बाल्टोस्लाव्हिक), आर्मेनियन और आर्य (इंडो-ईरानी)। इसके अतिरिक्त डेसियन, थ्रेसियन, फ्रीजियन, हित्ताइट आदि परिवारों का शिलालेख से पता चलता है। इनमें से अधिक महत्व का परि-

वार हित्ताइट है पर उसके विषय में बड़ा मतभेद है। एशिया-माइनर के बोगाजकुई में जो ईसा से पूर्व चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के इस हित्ताइट भाषा के शिलालेख मिले हैं उनकी भाषा प्रो० साइस के अनुसार सेमेटिक है, उस पर थोड़ा भारोपीय परिवार का प्रभाव पड़ा है पर कई विद्वान कहते हैं कि वह भाषा वास्तव में भारोपीय है जिस पर सेमेटिक का प्रभाव पड़ा है। जो हो, यह भाषा भारोपीय और सेमेटिक के सम्मिश्रण का सुंदर उदाहरण है।

केंटुम् और शतम् वर्ग

विद्वानों की कल्पना है कि प्रागैतिहासिक काल में भी इस भारोपीय भाषा में दो विभाषाएँ थीं। इसीसे उनसे निकली हुई भाषाओं की ध्वनियों में पीछे भी भेद लक्षित होता है। ग्रीक, लैटिन आदि कुछ भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के चवर्ग ने कवर्ग का रूप धारण कर लिया है और संस्कृत, ईरानी आदि में वही चवर्ग घर्षक-ऊष्म बन गया है, अर्थात् कुछ भाषाओं में जहाँ कवर्ग का कंठ्य-वर्ण देख पड़ता है वहीं (उसी शब्द में) दूसरी भाषाओं में ऊष्म-वर्ण पाया जाता है, जैसे लैटिन में केंटुम्, आक्टो, डिक्टिओ, गेनुस रूप पाए जाते हैं पर उन्हीं के संस्कृत प्रतिशब्द शतम्, अष्टौ, दिष्टिः, जनः आदि में ऊष्म-वर्ण देख पड़ते हैं। इसी भेद के आधार पर इन भारोपीय भाषाओं के दो वर्ग माने जाते हैं एक केंटुम् वर्ग, दूसरा शतम् (अथवा सतम्) वर्ग। सौ का वाचक शब्द सभी भारोपीय भाषाओं में पाया जाता है, अतः उसी को भेदक मानकर यह नामकरण किया गया है। यथा—मूल भा० चंतोम्, लैटिन केंटुम्, ग्रीक हेक्तोम्, प्राचीन आयरिश केत्, गाथिक खुद, तोखारी कंध, और दूसरे वर्ग की संस्कृत में शतम्, अवेस्ता में सतम्, लिथु (शितस) स्जिम्तस, रूसी स्तो। इस वर्गीकरण

की विशेषता यह है कि किसी भी वर्ग की भाषा में दोनों प्रकार की बोलियाँ नहीं मिलतीं अर्थात् कभी नियम का अतिक्रमण नहीं होता और न भेद अस्पष्ट होता है। इस प्रकार भारोपीय-भाषा-परिवार के केंटुम् वर्ग में केल्टिक, जर्मन, लैटिन, ग्रीक, हित्ताइट और तोखारी भाषाएँ तथा शतम् वर्ग में अल्बेनियन, लैटो-स्लाव्हिक, आर्मेनियन और आर्य भाषाएँ आती हैं।

यूरेशिया के पश्चिमी कोने में केल्टिक शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं। एक दिन था जब इस शाखा का एशिया-माइनर में गेलेटिया तक प्रसार था, पर अब तो वह यूरोप के पश्चिमोत्तरी कोने से भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। इस शाखा का इटालियन शाखा से इतना अधिक साम्य है कि स्यात् उतना अधिक साम्य भारतीय और ईरानी को छोड़कर किन्हीं दो भारोपीय शाखाओं में न मिल सकेगा। इटालियन शाखा की ही नाईं केल्टिक में उच्चारण भेद के कारण दो विभाग किए जाते हैं—एक क-वर्गीय केल्टिक और दूसरा प-वर्गीय केल्टिक; एक वर्ग की भाषाओं में जहाँ 'क' पाया जाता है दूसरे वर्ग की भाषा में वहीं 'प' मिलता है। जैसे पाँच के लिये वेल्श में पंप पाया जाता है और आयरिश में काँइक। इस शाखा के तीन मुख्य वर्ग होते हैं—गायलिक, गालिश और ब्रिटानिक। गालिश लुप्त हो गई है परंतु अन्य वर्ग की कुछ भाषाएँ अभी जीवित हैं।

केल्टिक शाखा

जर्मन अथवा ट्यूटानिक शाखा, भारोपीय परिवार की बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसका प्रसार और प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है। इस शाखा की अँगरेजी भाषा विश्व की अंतर्राष्ट्रीय भाषा हो रही है। इस शाखा का इतिहास भी बड़ा मनोहर तथा शिक्षापूर्ण है। प्राचीन काल से ही इस शाखा की भाषाओं में

संहित से व्यवहित होने की प्रवृत्ति रही है और इन सभी भाषाओं में प्रायः आद्यक्षर पर 'बल' का प्रयोग होता है। केवल स्वीडन की भाषा स्वीडिश इसका अपवाद है। उसमें स्वर का प्रयोग होता है। इन सब भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनका निराला वर्ण-परिवर्तन। प्रत्येक भाषा-विज्ञानी ग्रिम-सिद्धांत से परिचित रहता है। वह इन्हीं भाषाओं की विशेषता है। पहला वर्ण-परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ था। ग्रिम-सिद्धांत उसी का विचार करता है। इस वर्ण-परिवर्तन के कारण ही जर्मन-शाखा अन्य भारोपीय-शाखाओं से भिन्न देख पड़ती है। दूसरा वर्ण-परिवर्तन ईसा की सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जर्मन-भाषाओं में ही हुआ था और तभी से लो-जर्मन और हाई-जर्मन का भेद चल पड़ा। वास्तव में हाई-जर्मन जर्मनी के उत्तरी हाइलैंड्स की भाषा थी और लो-जर्मन दक्षिण जर्मनी के लो-लैंड्स में बोली जाती थी। इस शाखा के दो मुख्य विभाग होते हैं—पूर्वी जर्मन और पश्चिमी जर्मन। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी-जर्मन का प्रचार अधिक है, उसमें अधिक भाषाएँ हैं। पूर्वी-जर्मन में गाथिक और नार्थ-जर्मन (स्कैंडिनेवियन्) भाषाएँ हैं। पश्चिमी-जर्मन के दो विभाग हाई और लो-जर्मन के अंतर्गत आधुनिक जर्मन और आधुनिक अँगरेजी भाषा क्रमशः आती है।

इटाली की लैटिन प्रधान साहित्यिक भाषा होने से इस शाखा का नाम लैटिन शाखा अथवा लैटिन-भाषा-वर्ग है। कैल्टिक के

इटाली शाखा

समान इस शाखा के भी उच्चारण संबंधी दो भाषा वर्ग होते हैं—प-वर्ग और क-वर्ग अर्थात् जहाँ प-वर्ग की लैटिन में 'पंपेरिअस' होता है वहाँ क-वर्ग की लैटिन में 'क्विक्व' होता है। राजनीतिक कारणों से रोम की क-प्रधान-विभाषा का प्रसार इतना बढ़ा कि प-वर्ग की

भाषाओं का लोप ही हो गया, और अब अंब्रियन, ओस्कन, सेबाइन आदि का शिलालेखों में ही पता लगता है। इस वर्ग को अंब्रोसेमनिटिक भी कहते हैं। क-प्रधान अर्थात् प्राचीन लैटिन के दो विभाग होते हैं—संस्कृत लैटिन और प्राकृत लैटिन। प्राकृत लैटिन के अंतर्गत इटैलियन, स्पेनिश, पुर्तगाली, रेटोरो-मैनिक, रोमानियन, प्राह्वेंसल और फ्रेंच भाषाएँ हैं।

इन सब में प्रधान लैटिन ही है। यद्यपि रूपों और विभक्तियों में वह ग्रीक भाषा की बराबरी नहीं कर सकती तो भी उसके प्राचीन संहित रूपों में भारोपीय-परिवार के लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं। इसकी एक विशेषता बल-प्रयोग भी है। लैटिन के जो प्राचीन लेख हैं उनमें भी बल-प्रयोग ही मिलता है और वह उपधा-वर्ण पर ही प्रायः रहता है। अन्य भारोपीय-भाषाओं की भाँति लैटिन की प्रवृत्ति भी संहिति से व्यवहिति की ओर हुई है, और सबसे अधिक महत्त्व की बात लैटिन का इतिहास है। जिस प्रकार लैटिन से इटाली, फ्रेंच आदि अनेक रोमांस भाषाएँ विकसित हुई हैं उसी प्रकार मूल भारोपीय-भाषा से भिन्न-भिन्न केल्टिक, ग्रीक, लैटिन आदि शाखाएँ निकली होंगी। कई विद्वान् इस लैटिन के इतिहास से भारतीय देश-भाषाओं के विकास-क्रम की तुलना करते हैं। इस प्रकार यह रोमांस भाषाओं का इतिहास भाषा-विज्ञान में एक आदर्श सा हो गया है।

परंतु इटाली देश की संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से इटाली भाषा का महत्त्व सबसे अधिक है। रोमन साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर प्रांतीयता का प्रेम बढ़ गया था। कवि और लेखक प्रायः अपनी विभाषा में ही रचना किया करते थे। इटाली के तेरहवीं शताब्दी के महाकवि दांते (Dante) ने अपनी जन्मभूमि

इटाली भाषा

फ्लारेंस की विभाषा में ही अपना अमर काव्य लिखा। इसके पीछे रिनेसाँ (जागर्ति) के दिनों में भी इस नगर की भाषा में बड़ा काम हुआ। इस सब का फल यह हुआ कि फ्लारेंटाइन अथवा फ्लारेंस भाषा इटाली की साहित्यिक भाषा बन गई। पुस्तक, समाचार-पत्र आदि आज इसी भाषा में लिखे जाते हैं। इस प्रकार इटाली में आज एक साहित्य-भाषा प्रचलित है।

पुर्तगाली और स्पेनी में अधिक भेद नहीं है। केवल राजनीतिक कारणों से ये दोनों भिन्न भाषाएँ मानी जाती हैं। रोमांस अथवा रेटोरोमानिक पूर्वी स्विजरलैंड की भाषा है और रोमानी भाषा इस रोमांस वर्ग की सबसे अधिक पूर्वीय भाषा है। वह रोमानिया की प्रधान भाषा है। अब इन रोमांस भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के साथ भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की तुलना करें तो कई बातें एक सी दिखाई पड़ती हैं। जिस प्रकार प्राचीन परिष्कृत लैटिन, बोलचाल की लोकभाषा के बदल जानेपर भी शिक्षितों, साहित्यिकों और धर्माचार्यों के व्यवहार में प्रतिष्ठित रही, उसी प्रकार अनेक शताब्दियों तक संस्कृत भी अमर हो जाने पर अर्थात् बोलचाल में प्राकृतों का चलन हो जाने पर भी भारत की 'भारती' बनी रही। जिस प्रकार एक दिन लैटिन रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा थी, उसी प्रकार संस्कृत (वैदिक संस्कृत अथवा आर्ष अपभ्रंश) आर्य-भारत की राष्ट्रभाषा थी। लैटिन और संस्कृत दोनों में ही प्रांतीय विशेषताएँ थीं पर वे उस समय नगण्य थीं। जिस प्रकार वास्तविक एकता के नष्ट हो जाने पर और प्रांतीयता का बोलबाला हो जाने पर भी लैटिन धर्म और संस्कृति के द्वारा अपनी अधीन प्रांतीय भाषाओं पर शासन करती रही है उसी

इटाली और संस्कृत

प्रकार संस्कृत ने भी सदा प्राकृतों और अपभ्रंशों पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखा है एवं आज भी देशभाषाएँ संस्कृत से बड़ी सहायता ले रही हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही शाखाओं में आधुनिक भाषाओं ने प्राचीन भाषा को पदच्युत कर दिया है। जिस प्रकार यूरोप में अब इटालियन, फ्रेंच आदि का प्रचार है, न कि लैटिन का, उसी प्रकार भारत में आज हिंदी, मराठी, बँगला आदि देशभाषाओं का व्यवहार होता है, न कि संस्कृत का। रोमांस भाषाओं के विकास में जैसे उच्चारण और व्याकरण संबंधी विकार देख पड़ते हैं वैसे ही विकार भारतीय प्राकृतों के इतिहास में भी पाए जाते हैं, अर्थात् लैटिन से तुलना करने पर ध्वनि और रूप के जैसे परिवर्तन उससे निकली इटालियन, फ्रेंच आदि में देख पड़ते हैं, वैसे ही परिवर्तन संस्कृत से प्राकृतों तथा आधुनिक भाषाओं की तुलना करने पर दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे लैटिन और संस्कृत में जहाँ दो विभिन्न व्यंजनों का संयोग मिलता है वहाँ इटाली और प्राकृत में समान व्यंजनों का संयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ लैटिन का सेप्टेम् (Septem) और ओक्टो (Octo) इटाली में सेते (Sette) और ओत्तो (Otto) हो जाते हैं उसी प्रकार संस्कृत के सप्त और अष्ट पाली में सत्त और अट्ठ हो जाते हैं।

इसी प्रकार की अनेक समानताओं को देखकर विद्वान् लोग जहाँ कहीं भारतीय देशभाषाओं के संबद्ध इतिहास की एकाध कड़ी टूटती हुई देखते हैं और लिखित साक्षी का अभाव पाते हैं, वहाँ उपमान के बल से उसकी पूर्ति करने का यत्न करते हैं। उनके उपमान का आधार प्रायः यही रोमांस वर्ग का इतिहास हुआ करता है।

ग्रीक भाषा का प्राचीनतम रूप होमर की रचनाओं में

मिलता है। होमर की भाषा ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व की मानी जाती है। इसके पीछे के भी लेख, ग्रंथ और शिला-लेख आदि इतनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं कि उनसे ग्रीक भाषा का साधारण परिचय ही नहीं, उसकी विभाषाओं तक का अच्छा ज्ञान हो जाता है। अतः ग्रीक भाषा का सुंदर इतिहास प्रस्तुत हो जाता है और वह भाषा-विज्ञान की सुंदर सामग्री उपस्थित करता है।

ग्रीक भाषा

ग्रीक भाषा में संस्कृत की अपेक्षा स्वर-वर्ण अधिक हैं, ग्रीक में संध्यक्षरों का बाहुल्य है। इसी से विद्वानों का मत है कि भारोपीय भाषा के स्वरों का रूप ग्रीक में अच्छी तरह सुरक्षित है, पर संस्कृत की अतुल व्यंजन संपत्ति ग्रीक को नहीं मिल सकी। मूल-भाषा के व्यंजनों की रक्षा संस्कृत ने ही अधिक की है। दोनों भाषाओं में एक घनिष्ठ समानता यह है कि दोनों ही सस्वर भाषाएँ हैं, दोनों में स्वर (गीतात्मक स्वराघात) का प्रयोग होता था और पीछे से दोनों में बल-प्रयोग का प्राधान्य हुआ। रूप-संपत्ति के विषय में यद्यपि दोनों ही संहित भाषाएँ हैं, तथापि संस्कृत में संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप अधिक हैं, काल-रचना की दृष्टि से भी संस्कृत अधिक संपन्न कही जा सकती है, पर ग्रीक में अव्यय, कृदंत, क्रियार्थक संज्ञाएँ आदि अधिक होती हैं। संस्कृत के परस्मैपद, आत्मनेपद के समान ग्रीक में भी एक्टिव (Active) और मिडिल (Middle) वाएस (Voice) होते हैं। दोनों में द्विवचन पाया जाता है, दोनों में निपातों की संख्या भी प्रचुर है और दोनों में समास-रचना की अद्भुत शक्ति पाई जाती है।

ग्रीक और संस्कृत

ग्रीक भाषा के विकास की चार अवस्थाएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं। होमरिक (प्राचीन), संस्कृत और साहित्यिक, मध्यकालीन और आधुनिक। मध्यकालिन ग्रीक भाषा के दो उपवर्ग होते हैं। एक उपवर्ग में डोरिक, एओलिक, साइपीरियन आदि विभाषाएँ आती हैं और दूसरे में आयोनिक और एटिक। प्राचीन आयोनिक में होमर ने अपनी काव्य-रचना की थी। उसके पीछे आर्कीलोकस, मिमनर्मस आदि कवियों की भाषा मिलती है। इसे मध्यकालीन आयोनिक कहते हैं। आयोनिक का अंतिम रूप हेरोडोटस की भाषा में मिलता है। यह नवीन आयोनिक कहलाती है।

इससे भी अधिक महत्त्व की विभाषा है एटिक। साहित्यिक ग्रीक की कहानी वास्तव में इसी एटिक विभाषा की कहानी है। उसी विभाषा का विकसित और वर्तमान रूप आधुनिक ग्रीक है। क्लैसिकल (प्राचीन) और पोस्ट-क्लैसिकल (परवर्ती) ग्रीक (१) पेगन (Pagon) और (२) निओ-हेलेनिक (अर्वाचीन) तथा आधुनिक भाषा (३) क्रिश्चियन-ग्रीक कही जा सकती हैं। प्राचीन साहित्यिक ग्रीक वह है जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। इसका काल ईसा के पूर्व ५००–३०० वर्ष माना जाता है। इसके पीछे सिकंदर की विजय ने एटिक को निश्चित रूप से राष्ट्रीय बना दिया और वह तभी से काइन डायलेक्टोस (Common Dialect) कही जाने लगी। इस प्रकार जब एटिक ग्रीस देश भर की लोक-व्यवहार की भाषा हो गई थी तब वह हेलेनिस्टिक-ग्रीक कहलाने लगी थी। उसका विशेष वर्धन अलेक्जेंड्रिया में हुआ था। इसी भाषा में ईसाइयों की धर्म पुस्तक न्यू–टेस्टामेंट (नव विधान) लिखी गई थी, पर यह परवर्ती ग्रीक भी पेगन ही थी। वह धर्म-भाषा तो ईसा के ३०० वर्ष पीछे बनी। इसी

धार्मिक और कृत्रिम ग्रीक का विकसित रूप निओ-हेलेनिक कहलाता है। इस पर लोक-भाषा की भी छाप स्पष्ट देख पड़ती है। यही भाषा मध्य युग में से होती हुई आज आधुनिक ग्रीक कहलाती है। १४५० ई० के पीछे की भाषा आधुनिक कही जाती है।

मध्ययुग में बोलचाल की भाषा का इतना प्राधान्य हो गया था कि उस समय की ग्रीक सामयिक बोली का ही साहित्यिक रूप थी, पर अब फिर ग्रीक में प्राचीन एटिक शब्दों के भरने की प्रवृत्ति जाग उठी है। तो भी आधुनिक ग्रीक और प्राचीन एटिक ग्रीक में बड़ा अंतर हो गया है। आज की ग्रीक में कई समानाक्षरों और संध्यक्षरों का लोप हो गया है। व्यंजनों के उच्चारण में भी कुछ परिवर्तन हो गया है। आधुनिक ग्रीक में न तो अक्षरों की मात्रा का विचार रहता है और न स्वर-प्रयोग ही होता है। इस बल-प्रयोग के प्राधान्य से कभी-कभी कर्णकटुता भी आ जाती है। इसके अतिरिक्त बहुत सी विभक्तियाँ भी अब लुप्त अथवा विकृत हो गई हैं और विभक्त्यर्थ-अव्ययों का प्रयोग अधिक हो गया है। क्रियाओं में प्रायः सहायक क्रियाओं ने विभक्तियों का स्थान ले लिया है। शब्द-भांडार भी बढ़ गया है। अनेक नए शब्द गढ़ लिए गए हैं और बहुत से विदेशी शब्द भी अपना लिए गए हैं। यदि प्राचीन संस्कृत और वर्तमान हिंदी की तुलना की जाय तो अनेक समान बातें मिलेंगी।

हित्ताइट भाषा

एशिया माइनर के बोगाजकुई में जो खुदाई और खोज हुई है उससे एक हित्ताइट राज्य का पता लगा है। इसका काल ईसा से कोई चौदह पंद्रह शताब्दी पूर्व माना जाता है। उसी काल की भाषा हित्ताइट अथवा हित्ती कही जाती है।

हित्ताइट के समान ही यह भी केंटुम वर्ग की भाषा है और आधुनिक खोज का फल है। यह सेंट्रल एशिया के तुरफान की भाषा है। इसका अच्छा अध्ययन हुआ है और

तुखारी भाषा

यह निश्चित रूप से भारोपीय मान ली गई है। इसपर यूराल-अल्ताई-प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि अधिक विचार करने पर ही इसमें भारोपीय लक्षण देख पड़ते हैं। यद्यपि सर्वनाम और संख्यावाचक शब्द सर्वथा भारोपीय हैं तथापि इसमें संस्कृत की अपेक्षा व्यंजन कम हैं और संधि के नियम भी सरल हो गए हैं। संज्ञा के रूपों की रचना में विभक्ति की अपेक्षा प्रत्यय-संयोग ही अधिक मिलता है और क्रिया में कृदंतों का प्रचुर प्रयोग होता है। पर शब्द-भांडार बहुत कुछ संस्कृत से मिलता है।

यद्यपि इस भाषा का पता जर्मन विद्वानों ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लगाया है तथापि प्राचीन ग्रीक लोगों ने एक ताखारोह जाति का और महाभारत ने भी एक तुखार जाति का वर्णन किया है।

एल्बेनियन भाषा का भाषा-वैज्ञानिकों ने अच्छा अध्ययन किया है और अब यह निश्चित हो गया है कि रूप और ध्वनि की विशेषताओं के कारण इसे एक भिन्न परि-

एल्बेनियन शाखा

वार ही मानना चाहिए। पर कुछ शिलालेखों को छोड़कर इस भाषा में कोई प्राचीन साहित्य नहीं है। किसी समय की विशाल शाखा इलीरियन की अब यही एक छोटी शाखा बच गई है और उसका भी सत्रहवीं ईसवी के पूर्व का कोई साहित्य नहीं मिलता। वह आजकल बालकन प्रायद्वीप के पश्चिमोत्तर में बोली जाती है।

लैटो-स्लाव्हिक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके

लैटो-स्लाह्विक शाखा

दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक या बाल्टिक वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक ओल्ड-प्रशियन सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती है। इनमें से लिथुआनियन सब से अधिक आर्ष भाषा है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। इसमें आज भी esti (सं० अस्ति) gyvas (सं० जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है। स्लाह्विक अथवा स्लेह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषा-वर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में बड़ी-रूसी साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं, और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च-स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है, उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, एल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती है। इनका दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोह्वा-

कियन जेकोस्लोह्वाकिया के नए राज्य में बोली जाती है, स्लोह्वाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेबियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाविश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

अर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिन्ह मिलते हैं। इसके प्रमाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे-किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाह्विक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थी। आर्मेनियन स्वयं स्लाव्हिक और भारत-ईरानी आर्य परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म-वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम् वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय-परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने

भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय-भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ सभी रूपों के स्थान में, आर्य भाषाओं में आकर, केवल अ अथवा आ रह गया है।

(२) भारोपीय ə अर्थात् अर्धमात्रिक 'अ' के स्थान में आर्य भाषाओं में i (इ) हो जाता है।

इसी प्रकार वैदिक ईर्मः (भुजा), सं० दीर्घः (लंबा) आदि का ईकार भी भा० ə वर्ण का प्रतिनिधि है।

(३) र् और ल् (और उन्हीं के समान स्वर ऋ और ऌ) का आर्य भाषाओं में आकर अभेद हो गया है—रलयोरभेदः।

(४) भारोपीय S आर्यभाषाओं में इ, उ, य्, व्, स् और क् वर्णों के पीछे आने पर 'श्' हो जाता है और संस्कृत में उस श् का स्थान 'ष्' ले लेता है।

(५) इस प्रकार की ध्वनि संबंधी विशेषताओं के अतिरिक्त ईरानी और भारतीय भाषाओं में कुछ व्याकरण संबंधी ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो अन्य वर्ग की भाषाओं में नहीं पाई जातीं; जैसे षष्ठी बहुवचन में नाम्-विभक्ति अथवा लोट्-लकार के एकवचन की 'तु' विभक्ति।

इस प्रकार आर्य शाखा के दो प्रधान भेद हैं—ईरानी और भारतीय। ईरान के एक पश्चिमी प्रांत का नाम फारस (पारसीक)

देश है। अतः ईरानी में फारसी के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक ज़ेंद भाषा और अन्य आधुनिक प्रांतीय विभाषाएँ तथा बोलियाँ भी अंतर्भूत हैं। यद्यपि इन सब ईरानी भाषाओं का शृंखलाबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं है तो भी उनके मुख्य भेदों का विवेचन किया जा सकता है। उसका सबसे प्राचीन रूप पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा में मिलता है। ईरानी का दूसरा प्राचीन रूप प्राचीन फारसी कहलाता है। प्राचीनता में ईरान के पश्चिम की यह फारसी भाषा अवेस्ता के ही समकक्ष रखी जा सकती है। इसी प्राचीन फारसी का आगे वंश भी चला और मध्य युग में उसी की संतान मध्य-फारसी का राज्य था और फिर लगभग ९०० ईस्वी के पीछे उसी का तीसरा विकसित रूप काम में आने लगा। इसे हम आधुनिक फारसी कहते हैं। मुसलमान काल में फारस और भारत दोनों स्थानों में उसे राजपद मिल चुका है और आज भी वह एक साहित्य-संपन्न उच्च भाषा मानी जाती है। आजकल ईरान में प्रधान-फारसी के अतिरिक्त जो कई प्रांतीय बोलियाँ प्रचलित हैं, उनके अतिरिक्त ओसेटिक कुर्दी, गालचा, बलूची, पश्तो आदि अन्य आधुनिक विभाषाएँ ईरानी भाषा-वर्ग में मानी जाती है।

आर्य शाखा के भेद तथा उपभेद

इस आर्य उप-परिवार की दूसरी गोष्ठी भारतीय-आर्य-भाषा-गोष्ठी कही जाती है। इसमें वैदिक से लेकर आजकल की उत्तरापथ की सभी देशभाषाएँ आ जाती हैं। इसी में भारोपीय परिवार का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद पाया जाता है। उस समय की विभाषाओं का भी इस विशाल ग्रंथ से कुछ पता लगता है। इसमें छंदस् अथवा काव्य की भाषा की समकालीन प्राकृतों का

कोई इतिहास अथवा साहित्य तो नहीं उपलब्ध है तो भी अर्थापत्ति से विद्वानों ने उन प्राथमिक प्राकृतों की कल्पना कर ली है। उसी काल की एक विभाषा का विकसित राष्ट्रीय और साहित्यिक रूप पाणिनि की भाषा में मिलता है। इसी अमर भारती में हिंदुओं का विशाल वाङ्मय प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन प्राकृतों का साहित्य भी छोटा नहीं है। पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची), गाथा और अपभ्रंश सभी मध्य प्राकृत (या मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाएँ) कही जाती हैं और तृतीय प्राकृतों अथवा आधुनिक प्राकृतों में अपभ्रंश के अर्वाचीन रूप अवहट्ट और देशभाषाएँ आती हैं।

ईरानी और भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त एक ऐसा भाषा-वर्ग भी है जो काश्मीर के सीमांत से भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत तक बोला जाता है। उसे दारदीय भाषा-वर्ग कहते हैं। ये दरद भाषाएँ मिश्र और संधिज है, क्योंकि इनमें भारतीय और ईरानी दोनों के लक्षण मिलते हैं। इन्हें ही स्यात् भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने पैशाच नाम दिया था। इस भारत-ईरान-मध्यवर्ती भाषा-वर्ग में (काफिरिस्तान की बोली) बशगली, खोवार (या चित्राली), शीना और पश्चिमी काश्मीरी मुख्य बोलियाँ हैं। इन्हें कुछ लोग काफिर भाषा भी कहते हैं।

ईरानी देश के दो भाग किए जाते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी भाग की सबसे प्राचीन भाषा अवेस्ता कहलाती है। संस्कृत अभ्यस् (अभि+अस्) से मिलती-जुलती धातु से यह शब्द बना है और 'वेद' के समान उसका शास्त्र अथवा ग्रंथ अर्थ होता था, पर अब यह पारसी शास्त्रों को भाषा के लिये प्रयुक्त

होता है। जेंद या जिंद उसी मूल अवेस्ता की टीका का नाम था जो टीकाएँ पहलवी में लिखी गई हैं। इससे अवेस्ता को जेंद भाषा भी कहते हैं। अवेस्ता का जो साहित्य उपलब्ध है उसमें कई कालों की भाषाएँ हैं। उनमें से सबसे प्राचीन 'गाथा' कहलाती है। उसी में जरथुस्त्र के वचनों का संग्रह है। गाथा की भाषा भारोपीय भाषाओं में वैदिक को छोड़कर सबसे प्राचीन है। परवर्ती अवेस्ता (या यंगर अवेस्ता) इतनी अधिक प्राचीन नहीं है, उसमें लिखे व्हेंदीदाद के कुछ भाग ईसा के समकालीन माने जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि वर्तमान अफगानी उसी प्राचीन अवेस्ता की वंशज हैं।

पूर्वी ईरानी की एक और प्राचीन भाषा सोग्दी अथवा सोग्दियन है। यह परवर्ती अवस्था से भी अर्वाचीन मानी जाती है। इसकी अभी इसी शताब्दी में खोज हुई है। विद्वानों की कल्पना है कि आधुनिक पामीरी भाषाएँ इसी सोग्दी से निकली हैं।

बलूची भाषा की उत्पत्ति का अनुमान अभी नहीं किया जा सका है पर ग्रे ने लिखा है कि आधुनिक ईरानी भाषाओं में यह सबसे अधिक असंस्कृत और अविकसित है।

पश्चिमी ईरानी की एक भाषा मीडियन है। नाम के अतिरिक्त इस भाषा का कुछ पता नहीं है। ईरान की अन्य भाषाएँ भी सर्वथा लुप्त हो गई हैं। ये सब पश्चिमी ईरान की विभाषाएँ थीं। फारस प्रांत की विभाषा राजाश्रय पाकर इतनी बढ़ी कि अन्य विभाषाओं और बोलियों का उसने उन्मूलन ही कर दिया।

इस प्रकार ईरानी वर्ग का थोड़ा अध्ययन करने से भी कुछ

ईरानी भाषावर्ग की सामान्य विशेषताएँ

ऐसी ध्वनि संबंधी सामान्य विशेषताएँ देख पड़ती हैं जो उसकी सजातीय भाषा संस्कृत में नहीं मिलतीं। जैसे भारोपीय मूल भाषा का 'स' संस्कृत में ज्यों का त्यों सुरक्षित है पर ईरानी में उसका विकार 'ह' होता है।

१ सं०	अवेस्ता	प्रा० फा०	अर्वा० फा०
सिंधु	हिंदु	हिंदु	हिंद
सर्व	हौर्व	हौर्व	हर
सप्त	हप्त	...	हफ्ता
सचा	हचा (साथ)	...	...

२. भारोपीय घ, ध, भ के स्थान में ईरानी ग, द, ब आते हैं। यथा—

सं०	अर्व०	प्रा० फा०	अ० फा०	हिंदी
घर्म	गर्म	गर्म	गर्म	घाम
धित (हित)	दात	दात	दाद	(गर्म
भूमि	बूमि	बूमि	बूम	विदेशी है)

३ भारोपीय सघोष ज़ आदि के समान अनेक वर्ण ईरानी में मिलते हैं पर संस्कृत में उनका सर्वथा अभाव है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ ईरानी भाषावर्ग में पाई जाती हैं पर वे अवेस्ता में ही अधिक मिलती हैं और अवेस्ता तो संस्कृत से इतनी अधिक मिलती है कि थोड़े ध्वनि परवर्तनों को छोड़ दें तो दोनों एक ही भाषा प्रतीत होती हैं।

अवेस्ता भारोपीय परिवार के शतम् वर्ग की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। उसका यह वर्तमान नाम पहलवी अविस्ताक से निकला है। उसकी प्राचीन लिपि का कुछ पता नहीं

है। अब वह सेसेनियन पहलवी से उत्पन्न दाहिने से बायें को लिखी जानेवाली एक लिपि में लिखी मिलती है। इस भाषा में संस्कृत के समान दो अवस्थाएँ भी पाई जाती हैं—पहली गाथा की अवेस्ता वैदिक के समान आर्ष है और दूसरी परवर्ती अवेस्ता लौकिक संस्कृत के समान कम आर्ष मानी जा सकती है। गाथा अवेस्ता में कभी-कभी तो वैदिक से भी प्राचीन रूप या उच्चारण मिल जाया करते हैं। सामान्य रूप से गाथा अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में थोड़े ध्वनि-विकारों को छोड़कर कोई भी भेद नहीं पाया जाता। अवेस्ता का वाक्य सहज ही में वैदिक संस्कृत बन जाता है। जैसे—

अवेस्ता भाषा का संक्षिप्त परिचय

अवेस्ता	संस्कृत
तं अमवन्तं यज़तम्	तम् अमवंतं यजतम्
सूरं दामोहू शविस्तम्	शूरं धामसु शविष्ठम्
मिथम् यज़ै ज़ोथ्राब्यो	मित्रं यजै होत्राभ्यः

(अर्थात् मैं उस मित्र की आहुतियों से पूजा करता हूँ जो शूर ....शविष्ठ.........है)।

अवेस्ता वैदिक भाषा से इतनी अधिक मिलती है कि उसका अध्ययन संस्कृत भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये बड़ा लाभकर होता है, और इसी प्रकार प्राचीन फारसी प्राकृत और पाली से, मध्य फारसी अपभ्रंश से और आधुनिक फारसी आधुनिक हिंदी से बराबरी पर रखी जा सकती है। यह अध्ययन बड़ा रोचक और लाभकर होता है। *

भारत की भाषाओं ने भाषा-विज्ञान में एक ऐतिहासिक कार्य

* दे० Indo-Iranian Phonology: ग्रे

किया है, इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का देश एक पूरा महादेश अथवा महाद्वीप जैसा है। उसमें विभिन्न परिवार की इतनी भाषाएँ और बोलियाँ इकट्ठी हो गई हैं कि उसे एक पृथक भाषा-खंड ही मानना सुविधाजनक और सुंदर होता है। पाँच से अधिक आर्य तथा अनार्य परिवारों की भाषाएँ इस देश में मिलती हैं। दक्खिन के साढ़े चार प्रांतों अर्थात् आंध्र, कर्णाटक, केरल, तामिलनाड और आधे सिंहल में सभ्य द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं, भारत के शेष प्रांतों में आर्य-भाषाओं का व्यवहार होता है; आंध्र, उड़ीसा, बिहार, चेदिकोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमांत पर वन्य प्रदेशों में और सिंध की सीमा के पार कलात में भी कुछ अपरिष्कृत द्राविड़ बोलियाँ पाई जाती हैं। इन प्रधान भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त कुछ अप्रधान बोलियाँ भी हिमालय और विंध्य-मेखला के पड़ोस में बोली जाती हैं। आस्ट्रिक-परिवार की मुख्य भाषा-शाखा मुंडा ही भारत में है और वह भी मुख्यतः झाड़खंड में। तिब्बत-बर्मी भाषाएँ केवल हिमालय के ऊपरी भाग में पाई जाती हैं। ब्रह्मदेश में कुछ ऐसी भाषाएँ भी पाई जाती हैं जिनका किसी परिवार में निश्चित रूप से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इन सबका सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

भारतवर्ष की भाषायें

१. आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार—
    (क) इंडोनेशियन (मलयद्वीपी अथवा मलायुद्वीपी)
    (ख) आस्ट्रो-एशियाटिकः—१. मोन ख्मेर।
        २. मुंडा (कोल अथवा शाबर)
२. एकाक्षर (अथवा चीनी) परिवार—
    (क) श्यामी चीनी।

(ख) तिब्बती बर्मी।

३. द्राविड़ परिवार।

४. आर्य परिवार (अथवा भारत-ईरानी भाषाएँ)

(क) ईरानी शाखा,

(ख) दरद् शाखा,

(ग) भारतीय आर्य शाखा।

५. विविध अर्थात् अनिश्चित समुदाय।

(१) आस्ट्रिक परिवार

मुंडा भाषा उस विशाल आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार की शाखा है जो पूर्व-पश्चिम में मदागास्कर से लेकर प्रशांत महासागर के ईस्टर द्वीप तक और उत्तर-दक्षिण में पंजाब से लेकर सुदूर न्यू-ज़ीलैंड तक फैला हुआ है। इस आग्नेय परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—आग्नेयदेशी और आग्नेयद्वीपी (आस्ट्रोनेशियन)। आग्नेयद्वीपी स्कंध की फिर तीन शाखाएँ हैं—सुवर्णद्वीपी या मलायुद्वीपी (Indonesian) पपूवाद्वीपी (Malanesian) तथा सागरद्वीपी (Polynesian)। इस आग्नेयद्वीपी स्कंध को मलय-पालीनेशियन भाषा-वर्ग भी कहते हैं। आग्नेयद्वीपी परिवार की मलायुद्वीपी भाषाओं में से केवल मलायु (या मलय) और सलोन (Salon) भारत में बोली जाती हैं। ब्रिटिश बर्मा (ब्रह्मा) की दक्षिणी सीमा पर मलय और मरगुई आर्कीपेलिगो में सलोन बोली जाती है।

आग्नेयदेशी स्कंध की भाषाएँ भारत के कई भागों में बोली जाती हैं। प्राचीनकाल में इन भाषाओं का केंद्र पूर्वी-भारत पर हिंद-चीनी प्रायद्वीप ही था। अब इनका धीरे-धीरे लोप सा हो रहा है और इस स्कंध की जो भाषाएँ बची हैं उनको दो शाखाओं में बाँटा जाता है—एक मोन-ख्मेर और दूसरी मुंडा

(मुंड, कोल या शावर)। मोन-ख्मेर शाखा में चार वर्ग हैं:— (१) मोन-ख्मेर, (२) पलौंगवा, (३) खासी और (४) निकोबरी। इन सब में मोन-ख्मेर प्रधान वर्ग कहा जा सकता है। मोन एक मँजी हुई साहित्य-संपन्न भाषा है। एक दिन हिंदी-चीन में मोन-ख्मेर लोगों का राज्य था पर अब उनकी भाषा का व्यवहार ब्रह्मा, स्याम और भारत की कुछ जंगली जातियों में ही पाया जाता है। मोन-भाषा वर्मा के तट पर पेगू, बतोन और एम्हर्स्ट जिलों में, तथा मर्तबान की खाड़ी के चारों ओर, बोली जाती है। ख्मेर-भाषा कंबोज के प्राचीन निवासी ख्मेर लोगों की भाषा है। ख्मेर लोग मोनो के सजातीय हैं। ख्मेर-भाषा में भी अच्छा साहित्य मिलता है। आजकल यह भाषा ब्रह्मा और स्याम के सीमा प्रांतों में बोली जाती है। 'पलौंग' और 'वा' उत्तरी-ब्रर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। निकोबरी निकोबर द्वीप की बोली है। वह मोन और मुंडा बोलियों के बीच की कड़ी मानी जाती है। खासी बोली भी उसी शाखा की है, वह आसाम की खासी जाति द्वारा पहाड़ों में बोली जाती है। खासी बोली का क्षेत्र तिब्बत-बर्मी भाषाओं से घिरा हुआ है और बहुत दिनों से इन बोलियों का मोन-ख्मेर आदि आस्ट्रिक (आग्नेय) भाषाओं से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा है। इस प्रकार स्वतंत्र विकास के कारण खासी बोलियों में कुछ भिन्नता आ गई है। पर परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसका शब्द भांडार मोन से मिलता जुलता है और रचना तो बिलकुल मोन की ही है।

मुंडा

भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की सब से प्रधान भाषा मुंडा है। पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार और मध्य-प्रांत, मध्यभारत, उड़ीसा और मद्रास प्रांत के गंजम जिले तक मुंडा वर्ग की बोलियाँ फैली हुई हैं। इनके बीच-

बीच में कभी-कभी द्राविड़ बोलियाँ भी पाई जाती हैं। मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग में तो मुंडा बोलियाँ द्राविड़ बोलियों से घिरी हुई हैं पर इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य मुंडा की कनावरी बोली है। यह हिमालय की तराई से लेकर शिमला पहाड़ियों तक बोली जाती है। पर मुँडा बोलियों का मुख्य केंद्र विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में है। उनमें सबसे प्रधान बोली विंध्य के पूर्वी कोर पर संथाल परगने और छोटा नागपुर बिहार की खेरवारी बोली है। संताली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोर्वा आदि इसी बोली के उपभेद हैं।

खेरवारी के अतिरिक्त कूर्कू, खड़िया, जुआँग, शावर, गदबा आदि भी मुंडा शाखा की ही बोलियाँ हैं। कूर्कू विंध्य के पश्चिमी छोर पर मालवा (राजस्थान), मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग (अर्थात् बेतूल आदि में) और मेवाड़ में बोली जाती है। अन्य सब मुंडा बोलियाँ विशेष महत्त्व की नहीं हैं।

मुंडा बोलियाँ बिलकुल तुर्की के समान प्रत्यय-प्रधान और उपचय-प्रधान होती हैं। मुंडा भाषाओं की दूसरी विशेषता अंतिम व्यंजनों में पश्चात् श्रुति का अभाव है। चीनी अथवा हिंद-चीनी भाषाओं के समान पदांत में व्यंजनों का उच्चारण श्रुतिहीन और रुक जानेवाला होता है, वह अंतिम व्यंजन आगे के वर्ण में मिल सा जाता है। लिंग दो होते हैं—स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, पर वे व्याकरण के आधार पर नहीं चलते। उनकी व्यवस्था सजीव और निर्जीव के भेद के अनुसार की जाती है। सभी सजीव पदार्थों के लिये पुल्लिंग और निर्जीव पदार्थों के लिये स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है। वचन प्राचीन आर्य-भाषाओं की भाँति तीन होते हैं। द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिये संज्ञाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों के अन्य पुरुष के रूप

जोड़ दिए जाते हैं। द्विवचन और बहुवचन में उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम के दो दो रूप होते हैं—एक श्रोता-सहित वक्ता का बोध कराने के लिये और दूसरा रूप श्रोता-रहित वक्ता का बोध कराने के लिये। जैसे अले और अबोन—दोनों शब्दों का 'हम' अर्थ होता है पर यदि नौकर से कहा जाय कि हम भोजन करेंगे और 'हम' के लिये 'अबोन' का प्रयोग किया जाय तो नौकर भी भोजन करनेवालों में समझा जायगा। पर अले केवल कहनेवाले का बोध कराता है। मुंडा क्रियाओं में परप्रत्यय ही नहीं अंतः-प्रत्यय भी देखे जाते हैं। मुंडा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वाक्य रचना है। मुंडा वाक्य-रचना आर्य-भाषा की रचना से इतनी भिन्न होती है कि उसमें शब्द भेद की ठीक-ठीक कल्पना करना भी कठिन होता है।

भारत की भारोपीय आर्य भाषाओं पर द्राविड़ और मुंडा दोनों परिवारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ध्वनि संबंधी प्रभाव कुछ विवादास्पद है पर रूप-विकार तो निश्चित माना जाता है। बिहारी क्रिया की जटिल काल रचना अवश्य ही मुंडा की देन है। उत्तम पुरुष के सर्वनाम के दो रूप एक श्रोता का अंतर्भाव करनेवाला और दूसरा केवल वक्ता का वाचक मुंडा का ही विशेष लक्षण है और वह गुजराती, हिंदी आदि में भी पाया जाता है। कम से कम मध्यप्रांत की हिंदी में तो यह भेद स्पष्ट ही है—'अपन गए थे' और 'हम गए थे' दोनों में भेद स्पष्ट है। अपन में हम और तुम दोनों आ जाते हैं। गुजराती में भी 'अमे गया हता' और 'आपणे गया हता' में यही भेद होता है। अनेक संख्यावाचक शब्द भी मुंडा से आए प्रतीत होते हैं, जैसे कोरी अथवा कोड़ी मुंडा शब्द कुड़ी से आया है, अँगरेजी

भारोपीय भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव

स्कोर (Score) शब्द का तद्भव नहीं है। इस प्रकार अन्य अनेक लक्षण हैं जो मुंडा और आर्य-भाषाओं में समान पाए जाते हैं।

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

भारतवर्ष की एकाक्षर अथवा चीनी-परिवार की भाषाओं में तिब्बती और चीनी प्रधान भाषाएँ हैं। इसी से इस परिवार का एक नाम तिब्बती-चीनी-परिवार भी है। इन भाषाओं में से चीनी भारत में कहीं नहीं बोली जाती। स्यामी (अर्थात् ताई) शाखा की अनेक बोलियाँ ब्रह्मा और उत्तर-पूर्वी आसाम में बोली जाती हैं। उनमें से शान, अहोम और खामती मुख्य हैं। शान उत्तरी बर्मा में फैली हुई है। अहोम वास्तव में शान की ही विभाषा है—उसी से निकली एक विभाषा है।

स्याम-चीनी स्कंध

इस तिब्बत चीनी अथवा चीन-किरात परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—स्याम-चीनी और तिब्बत-बर्मी। स्याम-चीनी स्कंध के दो वर्ग हैं—चैनिक (Simitic) और तई (Tai)। चैनिक वर्ग की भाषाएँ चीन में मिलती हैं। स्यामी लोग अपने को थई अथवा तई कहते हैं। उन्हीं का दूसरा नाम शाम या शान है। हिंद-चीनी-प्रायद्वीप में तई अथवा शान जाति (नस्ल) के ही लोग अधिक संख्या में हैं। आसाम से लेकर चीन के काङसी प्रांत तक आज यही जाति फैली हुई है। इन्हीं के नाम से ब्रह्मपुत्र का अहोम-नामक काँठा 'आसाम', मे नाम का काँठा 'स्याम' और बरमा का एक प्रदेश 'शान' कहलाता है। अहोम बोली के अतिरिक्त आसाम के पूरबी छोर और बर्मा के सीमांत पर खामती नाम की बोली बोली जाती है। तई वर्ग की यही एक बोली भारत में जीवित है। उसके वक्ता पाँच हजार के लगभग होंगे।

तिब्बत और वर्मा (म्यम्म देश) के लोग एक ही नस्ल के हैं और उस नस्ल को जन-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के आचार्य तिब्बत-वर्मी कहते हैं। भाषा के विचार से

तिब्बत-बर्मी

तिब्बत-वर्मी भाषा-स्कंध विशाल तिब्बत-चीनी परिवार का आधा हिस्सा है। इसी तिब्बत-वर्मी-स्कंध का भारतवर्ष से विशेष संबंध है। उसकी तीन शाखाएँ प्रधान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) आसामोत्तरी (उत्तर आसामी) तथा (३) आसाम-वर्मी या लौहित्य। तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषाएँ और बोलियाँ तथा हिमालय में उत्तरी आँचल (उत्तरांचल) की कई छोटी-छोटी भोटिया बोलियाँ मानी जाती हैं। लौहित्य या आसाम-वर्मी शाखा के नाम से ही प्रकट हो जाता है कि उसमें वर्मी-भाषा तथा आसाम-बर्मा सीमांत की कई छोटी-छोटी बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। इन दोनों शाखाओं के बीच में उत्तर-आसामी वर्ग की बोलियाँ पड़ती हैं। इतना निश्चित हो गया है कि इन उत्तरी पहाड़ों की बोलियाँ ऊपर की किसी भी एक शाखा में नहीं रखी जा सकतीं, उनमें दोनों शाखाओं की छाप देख पड़ती है। इससे उत्तर-आसामी एक स्वतंत्र शाखा मानी जाती है। इसकी अलग भौगोलिक सत्ता है। तिब्बत-हिमालयी शाखा में फिर तीन वर्ग होते हैं। एक तो तिब्बती अथवा भोट भाषा है जिसमें तिब्बत की मँजी-सँवरी साहित्यिक भाषा और उसी की अनेक बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। शेष दो वर्ग हिमालय की उन बोलियों के हैं जिनकी रचना में सुदूर तिब्बती नींव स्पष्ट देख पड़ती है।

तिब्बती-भाषा का वाङ्मय बड़ा विशाल है। उसके धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि ग्रंथों से भारत की संस्कृति खोजने

में भी बड़ी सहायता मिलती है। सातवीं शताब्दी ई० में भारतीय प्रचारकों ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था, वहाँ की भाषा को सँवार-सिंगार कर उसमें संपूर्ण बौद्ध-त्रिपिटक का अनुवाद किया था। अन्य अनेक संस्कृत ग्रंथों का भी उसी समय तिब्बती में अनुवाद और प्रणयन हुआ था। अतः तिब्बती-भाषा में अब अच्छा वाङ्मय है, पर वह सब भारतीय है। भारत में जिन ग्रंथों की मूल प्रति नहीं मिलती उनका भी तिब्बती में अनुवाद मिला है।

इस तिब्बती-भाषा की कई गौण बोलियाँ भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। उनके दो उपवर्ग किए जा सकते हैं एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी में बाल्तिस्तान अथवा बोलौर की बाल्ती और पुरिक बोलियाँ तथा लदाखी बोली आ जाती है। बाल्ती-पुरिक और लदाखी के बोलनेवाले एक लाख इक्यासी हजार हैं, पर उनमें से कुछ भारतीय सीमा के बाहर भी रहते हैं। दूसरा उपवर्ग पूरबी है और उसमें भूटान की बोली ल्होखा, सिकिम की दांञ्जोङ्का, नैपाल की शर्पा और कागते तथा कुमाऊँ-गढ़वाल की भोटिया बोलियाँ हैं। ये दोनों उपवर्ग शुद्ध तिब्बती हैं। इनके बोलनेवाले अर्वाचीन काल में ही तिब्बत से भारत में आए हैं अतः भाषा में भी उनका संबंध स्पष्ट देख पड़ता है।

आसामोत्तर शाखा का न तो अच्छा अध्ययन हुआ है और न उसका विशेष महत्व ही है। अतः तिब्बत-हिमालयी वर्ग के उपरांत आसाम-बर्मी वर्ग आता है। आसाम-बर्मी वर्ग की भाषाओं के सात उपवर्ग किए जाते हैं। इन सब में प्रधान बर्मी और

आसाम-बर्मी-शाखा

उसकी बोलियाँ (अराकानी, दावे आदि) हैं। इस वर्ग की अन्य बोलियाँ भी प्रायः बर्मा में ही पड़ती हैं। केवल 'लोलो' चीन में पड़ती है। सक और कचिन बोलियाँ तो सर्वथा बर्मा में हैं, कुकीचिन बर्मा और शेष भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। बोडो (बाड़ा) बोलियाँ आसामी अनार्य भाषा हैं और 'नागा' भी बर्मा के बाहर ही पड़ती है। बोडो (बाड़ा) और नागा का हिमालयी शाखा से घनिष्ठ संबंध है, कुकीचिन और बर्मी अधिक स्वतंत्र हैं और शेष में मध्यावस्था पाई जाती है। बोडो बोलियाँ धीरे धीरे लुप्त होती जा रही हैं। नागा बोलियाँ निबिड़ जंगल में रहने के कारण आर्य-भाषाओं का शिकार नहीं हो सकी हैं। उनमें उपबोलियों की प्रचुरता आश्चर्य में डाल देती है। नागा-वर्ग में लगभग ३० बोलियाँ हैं। उनका क्षेत्र वही नागा पहाड़ है। उनमें कोई साहित्य नहीं है, व्याकरण की कोई व्यवस्था नहीं है और उच्चारण भी क्षण-क्षण, पग-पग पर बदलता रहता है।

कुकीचिन वर्ग की एक बड़ी विशेषता है कि उसकी एक भाषा मेईथेई सचमुच भाषा कही जा सकती है। उसमें प्राचीन साहित्य भी मिलता है। १४३२ ई० तक के मनीपुर राज्य के इतिवृत्त (Chronicles) मेईथेई भाषा में मिलते हैं। उनसे मेईथेई के गत ५०० वर्षों का विकास सामने आ जाता है। इस ऐतिहासिक अध्ययन से एकाक्षर भाषाओं के क्षणिक और विकृत होने का अच्छा नमूना मिलता है, अब तो इस एकाक्षर वंश की रानी चीनी भाषा के भी प्राचीन इतिहास का पता लग गया है। उसमें पहले विभक्ति का भी स्थान था। कुकीचिन-वर्ग की दूसरी विशेषता यह भी है कि उसकी भाषाओं और बोलियों में सच्ची क्रियाओं (Finite verbal forms) का सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनके स्थान में क्रियार्थी संज्ञा, अव्यय कृदंत आदि अनेक प्रकार

के कृदंतों का प्रयोग होता है। आर्य भाषाओं पर भी इस अनार्य प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा है।

मेईथेई के अतिरिक्त इस वर्ग की साहित्यिक भाषा बर्मी है पर यह तो एक अमर भाषा सी है। सच्ची बर्मी भाषाएँ तो बोलियाँ हैं। उनके उच्चारण और रूप की विविधता में से एकता खोज निकालना बड़ा कठिन काम है।

आर्य-भाषा परिवार के पीछे प्रधानता में द्राविड़ परिवार ही आता है और प्रायः सभी बातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर द्राविड़ भाषाओं में से कम से कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है। द्राविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जाती हैं—(१) द्राविड़ वर्ग, (२) आंध्र वर्ग (३) मध्यवर्ती वर्ग और (४) बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्रहुई बोली। तमिल, मलयालम, कन्नड और कन्नड की बोलियाँ, तुलु और कोड़गु (कुर्ग की बोली) सब द्राविड़ वर्ग में हैं और तेलुगु या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है।

द्राविड़ परिवार

इन सब बोलियों में अधिक प्रसिद्ध गोंडी बोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलुगु की अपेक्षा द्राविड़ वर्ग की भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके बोलने-वाले गोंड लोग आंध्र, उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल (बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। गोंड एक इतिहास प्रसिद्ध जाति है, उसकी बोली गोंडी का प्रभाव उत्तराखंड में भी ढूँढ़ निकाला गया है पर गोंडी बोली न तो कभी उन्नत भाषा बन सकी, न उसमें कोई साहित्य उत्पन्न हुआ और न उसकी कोई लिपि ही है। इसी से गोंडी

मध्यवर्ती वर्ग

शब्द कभी कभी भ्रमजनक भी होता है। बहुत से गोंड अब आर्य भाषा अथवा इससे मिली गोंडी बोली बोलते हैं, पर साधारण लोग गोंड-मात्र की बोली को गोंडी मान लेते हैं। गोंड लोग अपने आपको 'कोइ' कहते हैं।

गोंडी के पड़ोस में ही उड़ीसा में इसी वर्ग की 'कुई' नाम की बोली पाई जाती है। इसका संबंध तेलुगु से विशेष देख पड़ता है। इसमें क्रिया के रूप बड़े सरल होते हैं। इसके बोलने वाले सबसे अधिक जंगली हैं, उनमें अभी तक कहीं कहीं नर-बलि की प्रथा पाई जाती है। उड़िया लोग उन्हें कोंधो, कांधी अथवा खोंध कहते हैं।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में (अर्थात् चेदि-कोशल और बिहार के सीमांत पर) कुरुख लोग रहते हैं। ये ओराँव भी कहे जाते हैं। इनकी भाषा कुरुख अथवा ओराँव भी द्राविड़ से अधिक मिलती-जुलती है। इस बोली में कई शाखाएँ अर्थात् उपबोलियाँ भी हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में रहनेवाली मल्तो जाति की बोली 'मल्तो' कुरुख की ही एक शाखा है। बिहार और उड़ीसा में कुरुख बोलियों का क्षेत्र मुंडा के क्षेत्र से छोटा नहीं है। पर अब कुरुख पर आर्य और मुंडा बोलियों का प्रभाव दिनों-दिन अधिक पड़ रहा है। राँची के पास के कुछ कुरुख लोगों में मुंडारी का अधिक प्रयोग होने लगा है।

गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो आदि के समान इस वर्ग की एक बोली कोलामी है। वह पश्चिमी बरार में बोली जाती है। उसका तेलुगु से अधिक साम्य है, उसपर मध्यभारत की आर्य भोली बोलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह भी भोली के दबाव से मर रही है।

सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्राविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है। यहाँ के सभी स्त्री-पुरुष प्रायः दुभाषिए होते हैं। कभी-कभी स्त्री सिंधी बोलती है और पति ब्राहुई। यहाँ किस प्रकार अन्यवर्गीय भाषाओं के बीच में एक द्राविड़-भाषा जीवित रह सकी, यह एक आश्चर्य की बात है।

ब्राहुई वर्ग

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ हैं। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलुगु भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषा नहीं है। उसी भाषा को कई जातियाँ अथवा विदेशी व्यापारी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। विभाषाएँ तो तब बनती हैं जब प्रांतीय भेद के कारण शिष्ट और सभ्य लोग भाषा में कुछ उच्चारण और शब्द-भांडार का भेद करने लगें और उस भेदोंवाली बोली में साहित्य-रचना भी करें। ऐसी बातें तेलुगु के संबंध में नहीं हैं। तेलुगु का व्यवहार दक्षिण में तामिल से भी अधिक होता है, उत्तर में चाँदा तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी के किनारे चिकाकोल तक और पश्चिम में निजाम के आधे राज्य तक उसका प्रसार है। संस्कृत ग्रंथों का यही आंध्र देश है और मुसलमान इसी को तिलंगाना कहते थे। मैसूर में भी इसका व्यवहार पाया जाता है। बंबई और मध्यप्रदेश में भी इसके बोलनेवाले अच्छी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार द्राविड़-भाषाओं में संख्या की दृष्टि से यह सबसे बड़ी है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह तामिल से कुछ ही कम है। आधुनिक साहित्य के विचार से तो तेलुगु अपनी बहिन तामिल

आंध्र वर्ग

से भी बढ़ी-चढ़ी है। विजयानगरम् के कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिये बड़ा यत्न किया था, पर इसमें बारहवीं शताब्दी के पहले का वाङ्मय नहीं मिलता। इसमें संस्कृत का प्रचुर प्रयोग होता है तथा स्वर-माधुर्य इतना अधिक रहता है कि कठोर तामिलु उसके सौंदर्य को कभी नहीं पाती। इसके सभी शब्द स्वरांत होते हैं, व्यंजन पद के अंत में आता ही नहीं, इसी से कुछ लोग इसे पूर्व की इटाली भाषा कहते हैं।

द्राविड़ वर्ग

द्राविड़ वर्ग की भाषाओं में तामिलु सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। उसका वाङ्मय बड़ा विशाल है। आठवीं शताब्दी से प्रारंभ होकर आज तक उसमें साहित्य-रचना होती आ रही है। आज भी बंगला, हिंदी, मराठी आदि भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषाओं की बराबरी में तामिल का भी नाम लिया जा सकता है। तामिल की विभाषाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं पाया जाता, पर चलती भाषा के दो रूप पाए जाते हैं—एक छंदस (काव्य) की भाषा जिसे वे लोग 'शेन' (पूर्ण) कहते हैं और दूसरी बोलचाल की जिसे वे कोडुन (गँवारू) कहते हैं।

मलयालम

मलयालम 'तामिल की जेठी बेटी' कही जाती है। नवीं शताब्दी से ही वह अपनी माँ तामिल से पृथक् हो गई थी और भारत के दक्षिण पश्चिमी समुद्र तट पर आज वही बोली जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण संस्कृत प्रधान हो गई है। कुछ मोपले अधिक शुद्ध और देशी मलयालम बोलते हैं, क्योंकि वे आर्य संस्कृति से कुछ अलग हैं। इस भाषा में साहित्य भी अच्छा है और तिरूवाँकूर तथा कोचीन के राजाओं की छत्रच्छाया में उसका अच्छा वर्धन और विकास भी हो रहा है।

कन्नड़ मैसूर की भाषा है। उसमें अच्छा साहित्य है। उसकी काव्यभाषा अब बड़ी प्राचीन और आर्ष हो गई है। उसका अधिक संबंध तमिल भाषा से है, पर उसकी लिपि तेलगु से अधिक मिलती है। इस भाषा की भी स्पष्ट विभाषाएँ कोई नहीं हैं।

कन्नड़

इस द्राविड़ वर्ग की अन्य विभाषाओं में से तुलु एक बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। कोड़गु कन्नड़ और तुलु के बीच की भाषा है। उसमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं। भूगोल की दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। होड और कोट नील-गिरि के जंगलियों की बोलियाँ हैं। इनमें से होड जाति और उनकी भाषा मरणोन्मुख है।

द्राविड़ परिवार की भाषाएँ प्रत्यय-संयोग-प्रधान और अनेका-क्षर होती हैं, पर उनके रूप मुंडा की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और कम उपचय करनेवाले होते हैं। द्राविड़ भाषाओं में संयोग बड़ा स्पष्ट होता है और प्रकृति में कभी विकार नहीं होता। द्राविड़ भाषाओं में निर्जीव और निश्चेतन पदार्थ नपुं-सक माने जाते हैं और अन्य शब्दों में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के सूचक पद जोड़ दिए जाते हैं। केवल अन्य-पुरुष के सर्वनामों में और कुछ विशेषणों में स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का भेद पाया जाता है। नपुंसक संज्ञाओं का प्रायः बहुवचन भी नहीं होता। विभक्तियों के लिये परसर्गों का प्रयोग होता है। जहाँ संस्कृत में विशेषण के रूप सर्वथा संज्ञा के समान होते हैं वहाँ द्राविड़ में विशेषण के विभक्ति-रूप होते ही नहीं। मुंडा भाषाओं की भाँति द्राविड़ में भी उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक में श्रोता भी अंतर्भूत रहता है। इन

द्राविड़ परिवार के सामान्य लक्षण

भाषाओं में कर्मवाच्य नहीं होता। वास्तव में इनमें सच्ची क्रिया ही नहीं होती। इनकी वाक्य-रचना का अध्ययन बड़ा रोचक होता है। इन भाषाओं का और आर्य-भाषाओं का एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ा है।

इस परिवार की भी तीन शाखाएँ भारत में पाई जाती हैं ईरानी, दरद और भारतीय। ईरानी भाषाएँ बलूचिस्तान, सीमा-प्रांत और पंजाब के सीमांत पर बोली जाती हैं। उनमें सबसे अधिक महत्त्व की और उन्नत भाषा फ़ारसी है जो पश्चिमी ईरानी कहलाती है, पर यह भारत में कहीं भी बोली नहीं जाती। भारत में उसके साहित्यिक और अमर (classical) रूप का अध्ययन मात्र होता है। केवल बलूचिस्तान में देवारी नामक फ़ारसी विभाषा का व्यवहार होता है। भारत के शिष्ट मुसलमान जिस उर्दू का व्यवहार करते हैं उसमें फ़ारसी शब्द तो बहुत रहते हैं पर वह रचना की दृष्टि से खड़ी बोली का ही दूसरा नाम है।

आर्य परिवार

पूर्वी ईरान में बलोची, ओरमुदी, अफगान और गलचा भाषाएँ हैं। इनमें से जो भाषाएँ भारत में बोली जाती हैं उनमें से बलोची बलूचिस्तान और पश्चिमी सिंध में बोली जाती है। बलोची ही ईरानी भाषा में सबसे अधिक संहित और आर्ष मानी जाती है। उसकी रचना में बड़ी प्राचीनता और व्यवहिति की प्रवृत्ति की कमी पाई जाती है। उसकी पूर्वी बोलियों पर सिंधी, लहँदा आदि का अच्छा प्रभाव पड़ा है। उसमें अरबी और फ़ारसी का भी पर्याप्त मिश्रण हुआ है। बलोची में ग्राम-गीतों और ग्राम-कथाओं का यत्किंचित् साहित्य भी मिलता है।

ओरमुदी (अथवा बर्गिस्ता) अफगानिस्तान के ठीक केंद्र में

रहनेवाले थोड़े से लोगों की बोली है। इसके कुछ वक्ता सीमा-प्रांत में भी मिलते हैं।

अफगान-भाषा की अनेक पहाड़ी बोलियाँ हैं पर उस भाषा की विभाषाएँ दो ही हैं—पश्चिमोत्तर की पख्तो और दक्षिण-पूर्व की पश्तो। दोनों में भेद का आधार प्रधानतः उच्चारण भेद है। भारत का संबंध पश्तो से अधिक है और अपनी प्रधानता के कारण प्रायः पश्तो अफगानी का पर्याय मानी जाती है। यह भाषा है तो बड़ी शक्तिशालिनी और स्पष्ट, पर साथ ही बड़ी कर्कश भी है। गलचा पामीर की बोलियाँ हैं, उनमें कोई साहित्य नहीं है और न उनका भारत के लिये अधिक महत्व ही है, पर उनका संबंध भारत की आर्य भाषाओं से अति प्राचीन-काल से चला आ रहा है। यास्क, पाणिनि और पतंजलि ने जिस कंबोज की चर्चा की है वह गलचा भाषा का पहाड़ी क्षेत्र है। महाभाष्य में 'शवतिर्गतिकर्मा' का जो उल्लेख मिलता है वह आज भी गलचा बोलियों में पाया जाता है। सुत का अर्थ गतः (गया) होता है।

पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में दर्दिस्तान है और वहाँ की भाषा तथा बोली दरद कहलाती है। दरद नाम संस्कृत साहित्य में सुपरिचित है। ग्रीक लेखकों ने भी उसका उल्लेख किया है। एक दिन दरद भाषा के बोलनेवाले भारत में दूर तक फैले हुए थे इसी से आज भी लहँदा, सिंधी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी मराठी पर भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। इस दरद भाषा को ही कई विद्वान् पिशाच अथवा पैशाची भाषा कहना अच्छा समझते हैं। पैशाची के तीन भेद ये हैं—खोवार-वर्ग, काफिरवर्ग और दरदवर्ग। इनमें से दरद के तीन विभेद होते हैं—शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी।

खोवारीवर्ग ईरानी और दरद के बीच की कड़ी है। काफिर

बोलियाँ चित्राल के पश्चिम में पहाड़ों में बोली जाती हैं। शोना गिलगिट की घाटी में बोली जाती है। यही मूल दरदस्थान माना जाता है अतः शना दरद की आधुनिक प्रतिनिधि है। काश्मीरी ही ऐसी दरद भाषा है जिसमें अच्छा साहित्य है।

भारतवर्ष की आधुनिक आर्य भाषाएँ उसी भारोपीय परिवार की हैं जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

वर्गीकरण

अपने-भाषा 'सर्वे' में ग्रियर्सन ने भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करके इन भारतीय आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है (१) अंतरंग, (२) बहिरंग और (३) मध्यवर्ती। वह वर्गीकरण वृक्ष द्वारा इस प्रकार दिखाया जाता है।

(क) बहिरंग उपशाखा
- (१) पश्चिमोत्तरी वर्ग—१ लहंदा, २ सिंधी।
- (२) दक्षिणी वर्ग—३ मराठी।
- (३) पूर्वी वर्ग—४ आसामी, ५ बंगाली, ६ उड़िया, ७ बिहारी।

(ख) मध्यवर्त्ती उपशाखा
- (४) मध्यवर्त्ती वर्ग—८ पूर्वी हिंदी।

(ग) अंतरंग उपशाखा
- (५) केंद्र वर्ग—९ पश्चिमी हिंदी, १० पंजाबी, ११ गुजराती, १२ भीली, १३ खानदेशी, १४ राजस्थानी।
- (६) पहाड़ी वर्ग—१५ पूर्वी पहाड़ी अथवा नैपाली, १६ केंद्रवर्ती पहाड़ी, १७ पश्चिमी पहाड़ी।

इस प्रकार १७ भाषाओं के ६ वर्ग और ३ उपशाखाएँ मानी जा सकती हैं, पर कुछ लोगों को यह अंतरंग और बहिरंग का भेद ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा

है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उन्होंने इसके लिये अच्छे प्रमाण भी दिए हैं और भाषाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से किया है:—

(क) उदीच्य (उत्तरी वर्ग) १ सिंधी, २ लहँदा, ३ पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी वर्ग) ४ गुजराती, ५ राजस्थानी।

(ग) मध्यदेशीय (बिचला वर्ग) ६ पश्चिमी हिंदी।

(घ) प्राच्य (पूर्वी वर्ग ७ पूर्वी हिंदी, ८ बिहारी, ९ उड़िया, १० बँगला, ११ आसामी।

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी वर्ग) १२ मराठी।

पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी का रूपांतर माना है, पर उनको निश्चित रूप से किसी भी वर्ग में रख सकना सहज नहीं है। उनका एक अलग वर्ग मानना ही ठीक हो सकता है।

इस प्रकार हम ग्रियर्सन और चैटर्जी के नाम से दो पक्षों का उल्लेख कर रहे हैं—एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक माननेवाला और दूसरा उसका विरोधी। पर साधारण विद्यार्थी के लिये चैटर्जी का वर्गीकरण स्वाभाविक और सरल ज्ञात होता है, क्योंकि प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की ही भाषा सर्वप्रधान राष्ट्रभाषा होती आई है, अतः उसे अर्थात् पश्चिमी हिंदी अथवा केवल हिंदी को केंद्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। इसीसे स्वयं ग्रियर्सन ने अपने अन्य लेखों में सर्वप्रथम हिंदी को मध्यदेशीय वर्ग मानकर वर्णन किया है और दूसरे वर्ग में उन भाषाओं को रखा है जो इस मध्यदेशीय भाषा हिंदी और बहिरंग भाषाओं के बीच में अर्थात् सीमांत पर पड़ती हैं। इस प्रकार उन्होंने नीचे लिखे तीन भाग किए हैं:—

(क) मध्यदेशीय भाषा—१ हिंदी।
(ख) अंतर्वर्ती अथवा मध्यम भाषाएँ:—
(अ) मध्यदेशी भाषा से विशेष घनिष्ठतावाली २ पंजाबी, ३ गुजराती, ४ राजस्थानी, ५ पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा, अथवा नैपाली, ६ केंद्रस्थ पहाड़ी, ७ पश्चिमी पहाड़ी।
(आ) बहिरंग भाषाओं से अधिक संबद्ध—८ पूर्वी हिंदी।
(ग) बहिरंग भाषाएँ:—
(अ) पश्चिमोत्तर वर्ग—९ लहँदा, १० सिंधी।
(आ) दक्षिणी वर्ग—११ मराठी।
(इ) पूर्वी वर्ग—१२ बिहारी, १३ उड़िया, १४ बँगाली, १५ आसामी।

(भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती है।)

हम ग्रियर्सन के इस अंतिम वर्गीकरण को मानकर ही आधुनिक देश भाषाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदु, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न-भिन्न शब्द माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं,

हिंदी

तथा फारसी से आए हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदू से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के माननेवाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी

हिंदी शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ

भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अतः यह फारसी ग्रंथों में हिंद-देश के वासी और हिंद-देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहनेवाला दिहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिये हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपूर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ११ करोड़ है। यह हिंदी का प्रचलित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

हिंदी का शास्त्रीय अर्थ

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमि–भाग अथवा हिंदी-खंड में तीन चार भाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की राज-स्थानी, बिहार तथा बनारस, गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छतीसगढ़ की

पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीनकाल में मध्यदेश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिम में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती हैं और पूरब में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक-विवेचन में पूर्वी हिंदी भी हिंदी से पृथक् भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमागधी की। इसी से ग्रियर्सन, चैटर्जी आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू और खड़ी बोली को हिंदी की विभाषा माना है—अवधी, छतीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त अँगरेजी लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मन-चाहा अर्थ किया करते हैं इससे भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (१) मूल शब्दार्थ, (२) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ, तथा (३) शास्त्रीय अर्थ को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध और शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

खड़ी बोली

हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी आर्य-भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बाँगरू और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है, साहित्य और व्यवहार सब में उसी का

बोलचाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग ब्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिये आधुनिक साहित्यिक हिंदी को खड़ी बोली कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है, पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव देख पड़ता है।

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों का मूलाधार है। जैसा हम कह चुके हैं, खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है, पर जब वह साहित्यिक रूप धारण करती है तब कभी वह 'हिंदी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार होता है वह 'हिंदी' (अथवा युरोपीय विद्वानों की उच्च हिंदी) कही जाती है। इसी हिंदी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े-लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यही खड़ी बोली का साहित्यिक रूप हिंदी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बैठाया गया है। जब यही खड़ी बोली फारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी-कभी उसकी वाक्य रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे 'उर्दू' कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक

हिंदी-उर्दू

भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं—एक दिल्ली, लखनऊ आदि की तत्समबहुला कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू अथवा हिंदुस्तानी। इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में हिंदी और उर्दू खड़ी-बोली के दो साहित्यिक रूप मात्र हैं। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फारसी का आधार बनाकर विकसित किया जा रहा है।

हिंदुस्तानी

खड़ी बोली का एक रूप और होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिंदुस्तानी जो विशाल हिंदी-प्रांत के लोगों की परिमार्जित बोली है। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है, पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेजी ने भी हिंदुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि "पुरानी हिंदी, उर्दू और अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आप से आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है।" यह उद्धरण भी हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोलचाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो, हिंदुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिंदुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली ही कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की है, उसी प्रकार अँगरेजी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति

करने के लिये हिंदुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में हिंदुस्तानी नाम के जन्मदाता अँगरेज अफसर हैं। वे जिस साधारण बोली में साधारण लोगों से—साधारण पढ़े और बेपढ़े दोनों ढंग के लोगों से—बातचीत और व्यवहार करते थे उसे हिंदुस्तानी कहने लगे। जब हिंदी और उर्दू साहित्य सेवा में विशेष रूप से लग गई तब जो बोली जनता में बच रही है उसे हिंदुस्तानी कहा जाने लगा। यदि हम चाहें तो हिंदुस्तानी को चाहे हिंदी का, चाहें उर्दू का बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अतः हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपांतर मात्र हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रांतीय बोली के अर्थ में ही होता है।

हिंदी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है, यह बाँगर अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग की बोली है। देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद आदि की ग्रामीण बोली यही बाँगरू है। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। बाँगरू बोलनेवालों की संख्या बाईस लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के अंदर पड़ते हैं।

बाँगरू

ब्रजमंडल में ब्रजभाषा बोली जाती है। इसका विशुद्ध रूप आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोला जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७६ लाख है। ब्रजभाषा में हिंदी का इतना बड़ा सुंदर साहित्य लिखा गया है कि उसे बोली अथवा विभाषा न कहकर भाषा का नाम मिल गया था, पर आज तो वह हिंदी की

ब्रजभाषा

एक विभाषा मात्र कही जा सकती है। आज भी अनेक कवि पुरानी अमर ब्रजभाषा में काव्य लिखते हैं।

कन्नौजी

गंगा के मध्य दोआब की बोली कन्नौजी है। इसमें भी अच्छा साहित्य मिलता है, पर वह भी ब्रजभाषा का ही साहित्य माना जाता है, क्योंकि साहित्यिक कन्नौजी और ब्रज में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

बुंदेली

यह बुंदेलखंड की भाषा है और ब्रजभाषा के क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली के बोलनेवाले लगभग ६६ लाख हैं। मध्यकाल में बुंदेलखंड में अच्छे कवि हुए हैं पर उनकी भाषा ब्रज ही रही है। उनकी ब्रजभाषा पर कभी-कभी बुंदेली की अच्छी छाप देख पड़ती है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

मध्यवर्ती कहने का यही अभिप्राय है कि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं, अतः उनमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर उसके पूर्व की पूर्वी हिंदी में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उसे बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

जैसे पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में स्पष्ट हो गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों

भाषाएँ हिंदी को मध्यदेश की भाषा को घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिंदी की विभाषाएँ अथवा उपभाषाएँ मानी जा सकती हैं, पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर पूर्वी हिंदी में बहिरंग लक्षण ही प्रधान हैं।

पूरे पंजाब प्रांत की भाषा को पंजाबी कह सकते हैं, इसी से कई लेखक पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी के दो भेद करते

पंजाबी

हैं, पर भाषा-शास्त्री प्रायः पूर्वी पंजाबी को पंजाबी कहते हैं। अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को लहँदा कहते हैं। अमृतसर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में डोग्री बोली जाती है। इसकी लिपि तक्करी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी है। पंजाबी ही एक ऐसी मध्यदेश से संबद्ध भाषा है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों की भरती नहीं है। इस भाषा में वैदिक संस्कृत सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इसके बोलनेवाले बलिष्ठ और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत-चीनी भाषा के समान स्वर पाए जाते हैं।

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिंदी का

राजस्थानी और गुजराती

उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिंदी का दक्षिण-पश्चिमी विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अंतिम भाग

गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध है कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होगा। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र साहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ है, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती-जुलती पहाड़ी भाषाएँ हिंदी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है इसीसे वह नेपाली भी कही जाती है। इसे ही परबतिया अथवा खसकुरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है। केंद्रवर्ती पहाड़ी गढ़वाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढ़वाल जिलों में बोली जाती है। इसकी दो विभाषाएँ हैं—कुमाउनी और गढ़वाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें, थोड़े दिन हुए, लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। पश्चिमी-पहाड़ी बहुत-सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम है। उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य है। कुछ ग्राम-गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संयुक्त-प्रांत के जौनसार-बावर से लेकर पंजाब प्रांत में सिरमौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुडूली, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में कश्मीर की भदरवार जागीर तक पश्चिमी पहाड़ी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें जौनसारी, कुडूली, चंबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

पहाड़ी

इसे हिंदी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं, पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध-बिहारी भी कहा जा सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती-भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं। यह हिंदी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी को ही कोशली या बैसवाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी कही जाती है। पूर्वी-हिंदी नागरी के अतिरिक्त कैथी में भी कभी-कभी लिखी मिलती है। इस भाषा के कवि हिंदी साहित्य के अमर कवि हैं जैसे तुलसी और जायसी।

पूर्वी हिंदी

इनका सबसे बड़ा भेदक यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिंदी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिंदी की रचना सर्वथा व्यवहित है, पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती हैं। वे व्यवहिति से संहिति की ओर जा रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं से केवल पूर्वी-हिंदी कुछ संहित पाई जाती है।

बहिरंग भाषाएँ

यह पश्चिम पंजाब की भाषा है, इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी, डिलाही आदि नामों से पुकारी जाती है। कुछ विद्वान इसे लहँदी भी कहते हैं पर लहँदा तो संज्ञा है अतः उसका स्त्रीलिंग नहीं हो सकता। लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है, अब उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई। लहँदा की चार विभाषाएँ हैं—(१) एक केंद्रीय लहँदा जो

लहँदा

नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी जाती है, (२ दूसरी दक्षिणी अथवा मुल्तानी जो मुल्तान के आस पास बोली जाती है, (३) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पोठवारी और (४ चौथी उत्तर-पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है।

यह दूसरी बहिरंग भाषा है, और सिंध नदी के दोनों तटों पर बसे हुए सिंध देश की बोली है। इसमें पाँच विभाषाएँ हैं—

सिंधी

बिचोली, सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी। बिचोली मध्य सिंध की टकसाली भाषा है। सिंधी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिंधी का भी साहित्य छोटा-सा है। इसकी भी लिपि लंडा है, पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्रायः व्यवहार होता है।

कच्छी बोली के दक्षिण में गुजराती है। यद्यपि उनका क्षेत्र पहले बहिरंग भाषा का क्षेत्र रह चुका है पर गुजराती मध्यवर्ती

मराठी

भाषा है अतः यहाँ बहिरंग भाषा की शृंखला टूट सी गई है। इसके बाद गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है। यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह पश्चिमी घाट और अरब समुद्र के मध्य की भाषा है। पूना की भाषा ही टकसाली मानी जाती है। पर मराठी बरार में से होते हुए बस्तर तक बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व में मराठी अपनी पड़ोसिन छत्तीसगढ़ी से मिलती है।

मराठी की तीन विभाषाएँ हैं। पूना के आसपास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। यही थोड़े भेद से

उत्तर कोंकण में बोली जाती है, इससे इसे कोंकणी भी कहते हैं। पर कोंकणी एक दूसरी मराठी बोली का नाम है जो दक्षिणी कोंकण में बोली जाती है। पारिभाषिक अर्थ में दक्षिण कोंकणी ही कोंकणी मानी जाती है। मराठी की तीसरी विभाषा बरार की बरारी है। हल्बी मराठी और द्राविड़ की खिचड़ी बोली है जो बस्तर में बोली जाती है।

मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं।

पूर्व की ओर आने पर सबसे पहली बहिरंग भाषा बिहारी मिलती है। बिहारी केवल बिहार में ही नहीं, संयुक्त-प्रांत के पूर्वी भाग अर्थात् गोरखपुर, बनारस कमिश्नरियों से लेकर पूरे बिहार प्रांत में तथा छोटा नागपुर में भी बोली जाती है। यह पूर्वी-हिंदी के समान हिंदी की चचेरी बहिन मानी जा सकती है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—(१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर दरभंगा के आसपास बोली जाती है। (२) मगही जिसके केंद्र पटना और गया हैं। (३) भोजपुरी, जो गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर बिहार-प्रांत के आरा (शाहाबाद), चंपारन और सारन जिलों में बोली जाती है। यह भोजपुरी अपने वर्ग की ही मैथिली-मगही से इतनी भिन्न होती है कि चैटर्जी भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं।

बिहारी

बिहार में तीन लिपियाँ प्रचलित हैं। छपाई नागरी लिपि में होती है। साधारण व्यवहार में कैथी चलती है और कुछ मैथिलों में मैथिली लिपि चलती है।

ड़िया

ओड्री, उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसमें कोई विभाषा नहीं है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जिसे भत्री कहते हैं। भत्री में उड़िया, मराठी और द्राविड़ तीनों आकर मिल गई हैं। उड़िया का हित्य अच्छा बड़ा है।

ंगाली

बंगाल की भाषा बंगाली प्रसिद्ध साहित्य-संपन्न भाषाओं में-से एक है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं। हुगली के आस-पास की पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बँगला-लिपि देवनागरी का ही एक ांतर है।

ासामी

आसामी बहिरंग समुदाय की अंतिम भाषा है। यह आसाम भाषा है। यहाँ के लोग उसे असामिया कहते हैं। आसामी में प्राचीन साहित्य भी अच्छा है। यद्यपि आसामी बँगला से बहुत कुछ मिलती है तो भी व्याकरण और उच्चारण में पर्याप्त भेद है। यह भी एक प्रकार बँगला लिपि में ही लिखी जाती है।

चौथा अध्याय

हिंदी का शास्त्रीय विकास

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भी भाषा का विकास दिखाने के लिये उस भाषा की ध्वनि, रूप और अर्थ—तीनों का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। यदि हिंदी का भी इसी प्रकार का अध्ययन किया जाय तो एक बड़ा ग्रंथ बन सकता है—भारोपीय काल की भाषा से लेकर वैदिक, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, पुरानी हिंदी और आधुनिक हिंदी तक का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पूरे विस्तार के साथ विवेचन करने के लिये स्थान नहीं है तो भी संक्षिप्त परिचय देने के लिये इस क्रम से हिंदी की ध्वनि, रूप और अर्थ का विवेचन किया जायगा।

(१) हिंदी ध्वनि-समूह का परिचय

परिचय देने में जिन पारिभाषिक शब्दों की भाषा-विज्ञान के अन्य ग्रंथों में व्याख्या हो चुकी है उन्हीं का हम प्रयोग करेंगे। जैसे यदि हम कहें कि 'क' 'श्वास कंठ्य स्पर्श' है तो इस वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि 'क' एक व्यंजन है जिसके उच्चारण में जिह्वामध्य ऊपर उठ कर कंठ अर्थात् कोमल तालु को छू लेता है; कोमल तालु इतना ऊँचा उठा रहता है कि हवा नासिका में नहीं जा पाती अर्थात् वह ध्वनि अनुनासिक नहीं है; हवा जब फेफड़ों में से निकल कर ऊपर को आती है तो स्वर तंत्रियाँ कंपन नहीं करतीं (इसी से तो वह श्वास-ध्वनि है); और जीभ

कंठ को छूकर इतना शीघ्र हट जाती है कि स्फोट-ध्वनि उत्पन्न हो जाती है (इसी से वह स्पर्श-ध्वनि कही जाती है)। इसी प्रकार यदि 'इ' को 'संवृत अग्र स्वर' कहा जाता है तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि 'इ' एक स्वर है, उसके उच्चारण में जिह्वाग्र कोमल तालु के इतने पास उठकर पहुँच जाता है कि मार्ग बंद सा हो जाने पर घर्षण नहीं सुनाई पड़ता और कोमल तालु नासिकामार्ग को बंद किए रहता है।

स्वर

१. अ—यह ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मिश्र स्वर है अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति न बिलकुल पीछे रहती है और न बिलकुल आगे। और यदि जीभ की खड़ी स्थिति अर्थात् ऊँचाई-निचाई का विचार करें तो इस ध्वनि के उच्चारण में जीभ नीचे नहीं रहती—थोड़ा सा ऊपर उठती है इससे उसे अर्द्धविवृत मानते हैं। इसका उच्चारण काल केवल एक मात्रा है। उदाहरण—अब, कमल, घर, में, अ, क, म, घ। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी शब्द और अक्षर के अंत में अ का उच्चारण नहीं होता। ऊपर के ही उदाहरणों में ब, ल, र में हलंत उच्चारण होता है—अ का उच्चारण नहीं होता। पर इस नियम के अपवाद भी होते हैं जैसे दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है, जैसे सत्य, सीय। 'न' के समान एकाक्षर शब्दों में भी अ पूरा उच्चारित होता है, पर यदि हम वर्णमाला में अथवा अन्य किसी स्थल में क, ख, ग आदि वर्णों को गिनाते हैं तो अ का उच्चारण नहीं होता अतः क लिखा रहने पर भी ऐसे प्रसंगों में वह हलंत क् ही समझा जाता है।

समानाक्षर

२. आ— यह दीर्घ और विवृत पश्च स्वर है और प्रधान आ से वहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह अ का दीर्घ रूप नहीं है क्योंकि दोनों में मात्रा भेद ही नहीं, प्रयत्न भेद और स्थान भेद भी है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है और आ के उच्चारण में विलकुल पीछे रहती है अतः स्थान भेद हो जाता है। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता। उदा०—आदमी, काम, स्थान।

३. ऑ—अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्दों के बोलने और लिखने में ही इस अर्धविवृत पश्च ऑ का व्यवहार होता है। इसका स्थान आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ओ से थोड़ा नीचा होता है। उदा० –कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड।

४. ओ॑ —यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वामध्य (जीभ का पिछला भाग) अर्धविवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा थोड़ा ऊपर और भीतर की ओर जाकर दब जाता है। होठ गोल रहते हैं। इसका व्यवहार व्रज-भाषा में पाया जाता है। उदा०—अवलोकि हो॑ सोच विमोचन को (कवितावली, बालकांड १); वरु मारिए मोहिं विना पग धोए हो॑ नाथ न नाव न चढ़ाइहो॑ जू (कवितावली, अयोध्याकांड ६)।

५. ओ॑—यह अर्द्धविवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसका व्यवहार भी व्रजभाषा में ही मिलता है। उदा०—वाको॑, ऐसो॑, गयो॑, भयो॑। 'ओ' से इसका उच्चारण भिन्न होता है इसी से प्रायः लोग ऐसे शब्दों में 'औ' लिख दिया करते हैं।

६. ओ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका रहता है। व्रजभाषा और अवधी में इसका प्रयोग

मिलता है। पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं (कवितावली, बाल-कांड, ४), ओहि केर बिटिया (अवधी बोली)।

७. ओ—यह अर्धसंवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी में यह समानाक्षर अर्थात् मूलस्वर है। संस्कृत में भी प्राचीन काल में ओ संध्यक्षर था पर अब तो न संस्कृत ही में यह संध्यक्षर है और न हिंदी में। उदा०—ओर, ओला, हटो, घोड़ा।

८. उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है। उदा०—उस, मधुर, ऋतु।

९. उ॒—यह जपित ह्रस्व संवृत पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी की कुछ बोलियों में जपित अर्थात् फुसफुसाहटवाला उ भी मिलता है। उदा०—ब्र० जातउ॒, आवतउ॒, अव० भोरउ॒।

१०. ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़े ही नीचे होता है। इसके उच्चारण में ह्रस्व उ की अपेक्षा ओठ भी अधिक संकीर्ण (बंद से) और गोल हो जाते हैं। उदा०—ऊसर, मूसल, आलू।

११. ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे ही रहता है, और होठ भी फैले रहते हैं। उदा०—ईश, अहीर, पाती।

१२. इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा पीछे मध्य की ओर रहता है तथा होठ फैले तथा ढीले रहते हैं। उदा०—इमली, मिठाई, जाति।

१३. इ॒—यह इ का जपित रूप है। दोनों में अंतर इतना है कि इ नाद और घोष ध्वनि है पर इ॒ जपित है। यह केवल ब्रज, अवधी आदि बोलियों में मिलती है। उदा०—ब्र० आवतुइ॒, अव० गोलि॒।

१४. ए—यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका उच्चारण स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है। उदा०—एक, अनेक, रहे।

१५—ए्—यह अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका भी व्यवहार विभाषाओं और बोलियों में ही होता है। उदा०—ब्र० अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली), अव० ओहि केर बेटवा।

१६.—ए॒—नाद ए का यह जपित रूप है और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि भी साहित्यिक हिंदी में नहीं है, केवल बोलियों में मिलती है, जैसे अवधी कहे॒स।

१७. ऍ—यह अर्धविवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ ऊँचा है। ऑ के समान ए भी ब्रज की बोली की विशेषता है। उदा०—ऍसो, कॅसो।

१८. ऍ्—यह अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह दीर्घ ए की अपेक्षा थोड़ा नीचा और भीतर की ओर झुका रहता है। उदा०—'सुत गोद कॅ भूपति लै निकसे' में कॅ। हिंदी संध्यक्षर 'ऐ' भी शीघ्र बोलने से ह्रस्व समानाक्षर ऍ् के समान सुन पड़ता है।

१९. अ॑—यह अर्धविवृत ह्रस्वार्ध मिश्र स्वर है और हिंदी 'अ' से मिलता जुलता है। इसके उच्चारण में जीभ 'अ' की अपेक्षा थोड़ा और ऊपर उठ जाती है। जब यह ध्वनि काकल से निकलती है तब काकल के ऊपर के गले और मुख में कोई

निश्चित क्रिया नहीं होती, इससे इसे अनिश्चित (Indeterminate) अथवा उदासीन (Neutral) स्वर कहते हैं। इस पर कभी बल प्रयोग नहीं होता। अँगरेजी में इसका संकेत ə है। पंजाबी भाषा में यह ध्वनि बहुत शब्दों में सुन पड़ती है। जैसे—रईस, बेचारा (हिं० बिचारा), नौकर। कुछ लोगों का मत है कि यह उदासीन अ पश्चिमी हिंदी की पश्चिमी बोली में भी पाया जाता है। अवधी में तो यह पाया ही जाता है, जैसे—सोरही, रामक।

आजकल की टकसाली खड़ी बोली के उच्चारण के विचार से इन १६ अक्षरों में से केवल ६ ही विचारणीय हैं—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। उनमें भी ऑ केवल विदेशी शब्दों में प्रयुक्त होता है अर्थात् हिंदी में समानाक्षर आठ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में ह्रस्व ऍ और ओ का भी व्यवहार होता है, जैसे ऍक्का, सोनार, लोहार। शेष विशेष स्वर विभाषाओं और बोलियों में ही पाए जाते हैं।

खड़ी बोली के स्वर

ऊपर वर्णित सभी अक्षरों के प्रायः अनुनासिक रूप भी मिलते हैं पर इनका व्यवहार शब्दों में सभी स्थानों पर नहीं होता—कुछ विशेष स्थानों पर ही होता है। हिंदी की बोलियों में बुँदेली अधिक अनुनासिक बहुला है।

अनुनासिक स्वर

अननुनासिक और अनुनासिक स्वरों का उच्चारण स्थान तो वही रहता है, अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में केवल कोमल तालु और कौआ कुछ नीचे झुक जाते हैं जिससे हवा मुख के अतिरिक्त नासिका विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकलती है। इसीसे स्वर अनुनासिक हो जाते हैं।

उदाहरण—अँ—अँगरखा, हँसी, गँवार।
आँ—आँसू, बाँस, साँचा।
इँ—बिँदिया, सिँघाड़ा, धनिँया।
ईं—ईंट, ईंगुर, सींचना, आईं।
उँ—घुँघची, बुँदेली, मुँह।
ऊँ—ऊँघना, सूँघना, गेहूँ।
एं—गेंद, ऐंचा, बातें।

इसके अतिरिक्त ब्रज के लों, सों, हों, में आदि अवधी के घंटुआ, गौंठिवा (गांठ में बाँधूँगा) आदि शब्दों में अन्य विशेष स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है अर्थात् जिनका उच्चारण एक अक्षरवत् होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर बड़ी शीघ्रता से जाते हैं जिससे साँस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है और अवयवों में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता, क्योंकि इस परिवर्तन-काल में ही तो ध्वनि स्पष्ट होती है। अतः संध्यक्षर अथवा संयुक्त-स्वर एक अक्षर हो जाता है, उसे ध्वनि-समूह अथवा अक्षर-समूह मानना ठीक नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कई स्वर निकट आने से इतने शीघ्र उच्चरित होते हैं कि वे संध्यक्षर से प्रतीत होते हैं। इससे कुछ विद्वान् अनेक स्वरों के संयुक्त रूपों को भी संध्यक्षर मानते हैं।

हिंदी में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं और उन्हीं के लिये लिपि चिह्न भी प्रचलित हैं। १. ऐ ह्रस्व अ और ह्रस्व ए् की संधि से बना

है, उदा०—ऐसा, कैसा, बैर। और २. औ ह्रस्व अ और ह्रस्व ऑ की संधि से बना है, उदा०—औरत, बौनी, कौड़ी, सौ। इन्हीं दोनों ऐ, औ का उच्चारण कई बोलियों में अइ, अउ के समान भी होता है, जैसे—पैसा और मौसी, पइसा और मउसी के समान उच्चरित होते हैं।

यदि दो अथवा अनेक स्वरों के संयोग को संध्यक्षर मान लें तो भैआ, कौआ, आओ, बोए आदि में अइया, अउआ, आओ, ओए आदि संध्यक्षर माने जा सकते हैं। इन तीन अथवा दो अक्षरों का शीघ्र उच्चारण मुखद्वार को एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते समय किया जाता है, इसीसे इन्हें लोग संध्यक्षर मानते हैं। इनके अतिरिक्त व्रज, अवधी आदि बोलियों में अनेक स्वर समूह पाए जाते हैं जो संध्यक्षर जैसे उच्चरित होते हैं। उदा०—(व्र०) अइसी, गऊ और (अवधी) होइहै, होउ आदि।

व्यंजन

१. क़—यह अल्पप्राण श्वास, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौए के स्पर्श से होता है। वास्तव में यह ध्वनि विदेशी है और अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। प्राचीन साहित्य में तथा साधारण हिंदी में क़ के स्थान पर क हो जाता है। उदा० क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़।

स्पर्श व्यंजन

२. क—यह अल्पप्राण, अघोष, कंठ्यस्पर्श है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु को छूता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीनकाल में कवर्ग का उच्चारण और भी पीछे होता था।

क्योंकि कवर्ग जिह्वामूलीय माना जाता था। पीछे कंठ्य हो गया। कंठ्य का अर्थ गले में उत्पन्न (Guttural) नहीं लिया जाता। कंठ कोमल तालु का पर्याय है, अतः कंठ्य का अर्थ है 'कोमल तालव्य'। उदा०—कम, चकिया, एक।

३. ख—यह महाप्राण, अघोष, कंठ्य-स्पर्श है। क और ख में केवल यही भेद है कि ख महाप्राण है। उदा०—खेत, भिखारी, सुख।

४. ग—अल्पप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है। उदा०—गमला, गागर, नाग।

५. घ—महाप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है। उदा०—घर, रिघाना, बघारना, करघा।

६. ट—अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। मूर्धा से कठोर तालु का सबसे पिछला भाग समझा जाता है पर आज समस्त टवर्गी ध्वनियाँ कठोर तालु के मध्यभाग में उलटी जीभ की नोक के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण स्थान तालव्य वर्णों की अपेक्षा पीछे है। वर्णमाला में कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य वर्णों को क्रम से रखा जाता है इससे यह न समझना चाहिए कि कंठ के बाद तालु और तब मूर्धा आता है। प्रत्युत कंठ्य और तालव्य तथा मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के परस्पर संबंध को देखकर यह वर्णक्रम रखा गया है—वाक् से वाच् का और विकृत से विकट का संबंध प्रसिद्ध ही है। उदा०—टीका, रटना, चौपट।

अँगरेजी में ट, ड् ध्वनि नहीं हैं। अँगरेजी t और d वर्त्स्य हैं अर्थात् उनका उच्चारण ऊपर के मसूढ़े को बिना उलटी हुई जीभ की नोक से छू कर किया जाता है, पर हिंदी में वर्त्स्य ध्वनि

न होने से बोलनेवाले इन अँगरेजी ध्वनियों को प्रायः मूर्धन्य बोलते हैं।

७. ठ—महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य स्पर्श है। उदा०—ठाट, कठघरा, साठ।

८. ड—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य स्पर्श व्यंजन है। उदा०—डाक, गाडर, गँडेरी, टोडर, गड्ढा, खड।

९. ढ—महाप्राण, घोष, मूर्धन्यस्पर्श है। उदा०—ढकना, ढीला, षंढ, पंढरपुर, मेंढक।

ढ का प्रयोग हिंदी तद्भव शब्दों के आदि में ही पाया जाता है। षंढ संस्कृत का और पंढरपुर मराठी है।

१०. त—अल्पप्राण, अघोष, दंत्यस्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक दाँतों की ऊपरवाली पंक्ति को छूती है। उदा०—तब, मतवाली, बात।

११. थ—त और थ में केवल यही भेद है कि थ महाप्राण है। उदा०—थोड़ा, पत्थर, साथ।

१२. द—इसका भी उच्चारण त की भाँति होता है। यह अल्पप्राण घोष, दंत्यस्पर्श है। उदा०—दादा, मदारी, चाँदी।

१३. ध—महाप्राण, घोष, दंत्यस्पर्श है। उदा०—धान, बधाई, आधा।

१४. प—अल्पप्राण, अघोष, ओष्ठ्यस्पर्श है, ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओठों का स्पर्श होता है और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। यदि कोई ओष्ठ्य वर्ण शब्द अथवा अक्षर के अंत में आता है तो उसमें केवल स्पर्श होता है, स्फोट नहीं होता। उदा०—पत्ता, अपना, बाप।

१५. फ—यह महाप्राण, अघोष, ओष्ठ्यस्पर्श है। उदा०—फूल, बफारा, कफ।

१६. ब—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्यस्पर्श है। उदा०—बीन, धोबिन, अब।

१७. भ—यह महाप्राण, घोष, ओष्ठ्यस्पर्श है। उदा०—भला, मनभर, साँभर, कभी।

१८. च—च के उच्चारण में जिह्वोपाग्र ऊपरी मसूढ़ों के पास के ताल्वग्र का इस प्रकार स्पर्श करता है कि एक प्रकार की रगड़ होती है। अतः यह घर्ष-स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु की दृष्टि से देखें तो कंठ के आगे टवर्ग आता है और उसके आगे चवर्ग अर्थात् चवर्ग का स्थान आगे की ओर बढ़ गया है।

घर्ष-स्पर्श

च—अल्पप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श व्यंजन है। उदा०—चमार, कचनार, नाच।

१६. छ—महाप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है। उदा०—छिलका, कुछ, कछार।

२०. ज—अल्पप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है। उदा०—जमना, जाना, काजल, आज।

२१. झ—महाप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है। उदा०—झाड़, सुलझाना, बाँझ।

२२. ङ—घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है और कौआ सहित कोमल तालु कुछ नीचे झुक जाता है जिससे कुछ हवा नासिकाविवर में पहुँचकर गूँज उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्पर्श ध्वनि अनुनासिक हो जाती है।

अनुनासिक

शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ङ सुनाई पड़ता है। शब्दों के आदि या अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। स्वर सहित ङ

का भी व्यवहार हिंदी में नहीं पाया जाता। उदा०—रङ्क, शङ्ख, कङ्घा, भङ्गी।

२३. ञ्—घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिंदी में यह ध्वनि होती ही नहीं और जिन संस्कृत शब्दों में वह लिखी जाती है उनमें भी उसका उच्चारण 'न्' के समान होता है जैसे चञ्चल, अञ्चल आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, अन्चल की भाँति होता है। कहा जाता है कि व्रज, अवधी आदि में ञ ध्वनि पाई जाती है, पर खड़ी बोली के साहित्य में वह नहीं मिलती।

२४. ण—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य अनुनासिक स्पर्श है। स्वर सहित ण केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलता है और वह भी शब्दों के आदि में नहीं। उदा०—गुण, मणि, परिणाम।

संस्कृत शब्दों में भी पर-सवर्ण 'ण' का उच्चारण 'न' के समान ही होता है। जैसे (सं०) पंडित, कंठ आदि पन्डित, कन्ठ आदि के समान उच्चरित होते हैं। अर्द्ध-स्वरों के पहले अवश्य हलंत ण ध्वनि सुन पड़ती है, जैसे—कण्व गण्य, पुण्य आदि। इनके अतिरिक्त जिन हिंदी शब्दों में यह ध्वनि बताई जाती है उनमें 'न' की ही ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे—कंडा, घंटा, ठंढा।

२५. न—अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक स्पर्श है, इसके उच्चारण में ऊपर के मसूढ़े से जिह्वानीक का स्पर्श होता है। अतः इसे दंत्य मानना उचित नहीं। उदा०—नमक, कनक कान, बंदर।

२६. न्ह—महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। पहले इसे विद्वान् संयुक्त व्यंजन मानते थे पर अब कुछ आधुनिक विद्वान् इसे घ, ध, भ आदि की तरह मूल महाप्राण ध्वनि मानते हैं। उदा०—उन्हें, कन्हैया, जुन्हैया, नन्हा।

२७. म—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य अनुनासिक स्पर्श है। उदा०—माता, रमता, काम।

२८. म्ह—महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है। न्ह के समान इसे भी अब विद्वान् संयुक्त व्यंजन न मानकर मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं। उदा०—तुम्हारा, कुम्हार।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि हिंदी के विचार से न, न्ह, म और म्ह, ये ही अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। शेष तीन ङ्, ञ् और ण के स्थान में 'न' ही आता है। केवल तत्सम शब्दों में इनका प्रयोग किया जाता है और अनुस्वार के विचार से तो दो ही प्रकार के उच्चारण होते हैं—न और म।

२९. ल—पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूढ़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दोनों ओर खुला स्थान रहने से हवा निकला करती है। यद्यपि ल और र एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं पर ल पार्श्विक होने से सरल होता है। उदा०—लाल, जलना, कल।

पार्श्विक

३०. ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल व्यंजन ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है। उदा०—(ब्र०) काल्हि, कल्ह (बुँदेलखंडी), सल्हा (हिं० सलाह)। 'कल्ही' जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

३१. र—लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स्य को कई बार जल्दी जल्दी छूती है। उदा०—रटना, करना, पार, रिण।

लुंठित

३२. र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना

जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कऱ्हानो, उऱ्हानो आदि (व्रज०)।

३३. ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उल्टी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि में नहीं आता, केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है। उदा०—सूँड़, कड़ा, बड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

उत्क्षिप्त

३४. ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। बस यही भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों में ही होता है। उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

३५. ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है। उदा०—हाथ, कहानी, टोह।

घर्ष वर्ण

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है, जैसे—हम, होठ, हिंदु और छिह्, छह्, कह्, यह् आदि। पर जब 'ह' दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता

है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ, में अघोष 'ह' है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष 'ह' का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छिः जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष 'ह' अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना, अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किए हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग — विसर्ग के लिये लिपि संकेत 'ह' अथवा ':' है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

३६. ख़—जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है अतः इसे स्पर्श व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी, अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है और हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है। उदा०—ख़राब, बुख़ार और बलख़।

३७.—ग़—इसमें और ख़ में केवल एक भेद है कि यह घोष है। अर्थात् ग़ जिह्वामूलीय, घोष, घर्ष ध्वनि है। यह भी भारतीय ध्वनि नहीं है, केवल फारसी, अरबी तत्सम शब्दों में पाई जाती है। वास्तव में ग़ और ग में कोई संबंध नहीं है पर बोलचाल में ग़ के स्थान में ग ही बोला जाता है। उदा०—ग़रीब, चोग़ा, दाग़।

३८. श—यह अघोष, घर्ष, तालव्य ध्वनि है। इसके

उच्चारण में जीभ की नोक कठोर तालु के बहुत पास पहुँच जाती है पर पूरा स्पर्श नहीं होता, अतः तालु और जीभ के बीच में से हवा रगड़ खाती हुई बिना रुके आगे निकल जाती है। इसी से यह ध्वनि घर्ष तथा अनवरुद्ध कही जाती है। इसमें 'शी', 'शी', के समान ऊष्मा निकलता है, इससे इसे ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्राचीन है। साथ ही वह अँगरेजी, फ़ारसी, अरबी आदि से आए हुए विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। पर हिंदी की बोलियों में श का दंत्य (स) उच्चारण होता है। उदा०—शांति, पशु, यश, शायद, शाम, शेयर, शेड।

३६. स—वर्त्स्य घर्ष, अघोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक और वर्त्स्य के बीच घर्षण (रगड़) होता है। उदा०— सेवक, असगुन, कपास।

४०. ज़—ज़ और स का उच्चारण स्थान एक ही है। ज़ भी वर्त्स्य, घर्ष ध्वनि है किंतु यह घोष है। अतः ज़ का संबंध स से है, ज से नहीं। ज़ भी विदेशी ध्वनि है और फारसी अरबी तत्सम शब्दों में ही बोली जाती है। हिंदी बोलियों में ज़ का ज हो जाता है। उदा०—ज़ुल्म, गुज़र, बाज़।

४१. फ़—दंतोष्ठ्य, घर्ष, अघोष व्यंजन है। इसके उच्चारण में नीचे का होठ ऊपर के दाँतों से लग जाता है पर होठ और दाँत दोनों के बीच में से हवा रगड़ के साथ निकलती रहती है। इसको द्वयोष्ठ्य फ का रूपातर मानना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है। वास्तव में फ़ विदेशी ध्वनि है और विदेशी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। हिंदी बोलियों में इसका स्थान फ लेता है। उदा०—फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

४२. व—उच्चारण फ़ के समान होता है। परंतु यह घोष है, अर्थात् व दंतोष्ठ्य घोष घर्ष ध्वनि है। यह प्राचीन ध्वनि है और विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। उदा०—वन, सुवन, यादव।

४३. य (अथवा इ̯)—यह तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है।

अर्द्धस्वर (अंतस्थ)

इसके उच्चारण में जिह्वोपाग्र कठोर तालु की ओर उठता है पर स्पष्ट घर्षण नहीं होता। जिह्वा का स्थान भी व्यंजन च और स्वर इ के बीच में रहता है इसी से इसे अंतस्थ अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि मानते हैं।

वास्तव में व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनियाँ हैं घर्ष व्यंजन। जब किसी घर्ष व्यंजन में घर्ष स्पष्ट नहीं होता तब वह स्वरवत् हो जाता है। ऐसे ही वर्णों को अर्धस्वर अथवा अंतस्थ कहते हैं। 'य' इसी प्रकार का अर्धस्वर है। उदा०—कन्या, प्यास, ह्याँ, यम, धाय, आए। 'य' का उच्चारण एक सा होता है और कुछ कठिन होता है, इसी से हिंदी बोलियों में य के स्थान में ज हो जाता है। जैसे—यमुना—जमुना, यम—जम।

४४. व़—ओश्र से बहुत कुछ मिलता है। यह घर्ष का ही अघर्ष रूप है। यह ध्वनि प्राचीन है। संस्कृत तत्सम और हिंदी तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में पाई जाती है। उदा०—क्व़ार, स्व़ाद, स्व़र, अध्व़र्यु आदि।

अब हम नीचे वैदिक, परवर्ती संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और हिंदी के ध्वनि समूह का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे हिंदी की ध्वनियों का परिचय प्राप्त हो जाय।

हमारी संस्कृत भाषा उस भारोपीय परिवार की कन्या है जिसका विद्वानों द्वारा सुंदर अध्ययन हुआ है। इस परिवार की

अनेक भाषाएँ आज भी जीवित हैं; अनेक के साहित्य-चिह्न मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर इस परिवार की आदिमाता अर्थात् भारोपीय मातृभाषा की भी रूप-रेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतः हिंदी की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिये उस भारोपीय मातृभाषा की ध्वनियों से भी संक्षिप्त परिचय कर लेना अच्छा होता है। यद्यपि आदि भाषा की ध्वनियों के विषय में मतभेद है तथापि हम अधिक विद्वानों द्वारा गृहीत सिद्धांतों को मानकर ही आगे बढ़ेंगे। उस मूल भारोपीय भाषा में स्वर और व्यंजन दोनों की ही संख्या अधिक थी। कुछ दिन पहले यह माना जाता था कि संस्कृत की वर्णमाला सबसे अधिक पूर्ण है। यही ध्वनियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ मूल भाषा में रही होंगी पर अब खोजों द्वारा सिद्ध हो गया है कि संस्कृत की अपेक्षा मूल भाषा में स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ कहीं अधिक थीं।

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर—उस काल के अक्षरों का ठीक उच्चारण सर्वथा निश्चित तो नहीं हो सका है तो भी सामान्य व्यवहार के लिये निम्न-लिखित संकेतों से उन्हें हम प्रकट कर सकते हैं। समानाक्षर—ă, ā; ĕ, ē; ŏ, ō; ə, ĭ, ī; ŭ, ū; (१) इनमें से—ă, ĕ, ŏ, ĭ, ŭ ह्रस्व अक्षर हैं, नागरी लिपि में हम इन्हें, अ, ए, ओ, इ तथा उ से अंकित कर सकते हैं। (२) और ā आ, ē ए, ō ओ, ī ई और ū ऊ दीर्घ अक्षर होते हैं। (३) ə अ एक ह्रस्वार्ध स्वर है जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसे ही उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनंत वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो अक्षर का काम करते थे, जैसे—m̥, n̥, r̥, l̥; नागरी में इन्हें हम म्, न्, र्, ल् लिख सकते हैं। ṃ, ṇ आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और ṛ, ḷ आक्षरिक द्रव अथवा अंतस्थ व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रव वर्णों के साथ स्वरों के संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर अथवा संयुक्ताक्षर भी उस मूलभाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या अल्प नहीं है। उनमें से मुख्य ये हैं:—ai̯, āi̯, ēi̯, ei̯, ōi, oi; au̯, āu̯, eu̯, ēu̯, ou̯, ōu, ᵊm, ᵊn, ᵊr, ᵊl.

व्यंजन—स्पर्श वर्ण:—

१. ओष्ठ्य वर्ण—	p,	ph,	b,	bh.
२. दंत्य—	t,	th,	d,	dh.
३. कंठ्य—	q,	qh,	g,	gh.
४. मध्य कंठ्य—	k,	kh,	g,	gh.
५. तालव्य—	k̑,	k̑h,	g̑,	g̑h.

अनुनासिक व्यंजन—m, n, ṅ (ङ) और ñ (ञ्)

अर्धस्वर—i̯ और u̯ अर्थात् य और व।

द्रव वर्ण:—अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो द्रववर्ण अवश्य मूल भारोपीय भाषा में विद्यमान थे अर्थात् र् और ल्।

सोष्म ध्वनि—s स, z ज़, j य, v व्ह, Y ग, þ थ, $\overset{+}{a}$ द़, ये सात मुख्य सोष्म ध्वनियाँ थीं।

वैदिक ध्वनि-समूह

अब हम वैदिक काल की ध्वनियों का विचार करेंगे। वैदिक ध्वनि-समूह, सच पूछा जाय तो, इस भारोपीय परिवार में सबसे प्राचीन है। इस समूह में ५२ ध्वनियाँ पाई जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—नव समानाक्षर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ और
चार संध्यक्षर ए, ओ, ऐ, औ।

व्यंजन—कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ
मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ, ळ्ह, ण
दंत्य—त, थ, द, ध, न
ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म
अंतस्थ—य, र, ल, व
ऊष्म—श, ष, स
प्राणध्वनि—ह
अनुनासिक— ं (अनुस्वार)
अघोष सोष्म वर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

अभाव

ऐतिहासिक तुलना की दृष्टि से देखें तो वैदिक भाषा में कई परिवर्तन देख पड़ते हैं। भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ उसमें नहीं पाई जातीं। उसमें (१) ह्रस्व e, o और ə, (२) दीर्घ ə, o; (३) संध्यक्षर ei, oi, eu, ou; ai, ei, oi, au, eu, ou; (४) स्वनंत अनुनासिक व्यंजन, (५) और नाद सोष्म z का अभाव हो गया है।

परिवर्तन

वैदिक में (१) ĕ, ŏ के स्थान में ă अ, ə के स्थान में इ, (२) दीर्घ ē, ō के स्थान में आ, (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi के स्थान में ē ए, ĕu, ŏu के स्थान में ō ओ, और ăz, ĕz, ŏz के स्थान में भी ē, ō; (४) ṛ के स्थान में ईर, ऊर, ḷ के स्थान में ṛ ऋ, (५) āi, ēi, ōi के स्थान āi ऐ āu, ēu, ōu के स्थान में āu औ; आता है। इसके अतिरिक्त जब ऋ के पीछे अनुनासिक आता है, ऋ का ॠ हो जाता है। अनेक कंठ्य वर्ण तालव्य हो गए हैं। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक में सोष्म श के रूप में देख पड़ता है।

अर्जन—सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनियाँ वैदिक में नई संपत्ति हैं।

आजकल की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

स्वर—(तेरह स्वर)

	पश्च	मध्य अथवा मिश्र	अग्र
संवृत (उच्च)	ऊ, उ		ई, इ
अर्ध संवृत (उच्च-मध्य)	अ	(अ')	ए
अर्ध विवृत (नीच-मध्य)	....	....	....
विवृत (नीच)	आ, अ		
संयुक्त स्वर	औ		ऐ
आक्षरिक			ऋ, ॠ, ऌ

व्यंजन—

	काकल्य	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष-वर्ण	ह, ः (वि०)	ᳵ(जिह्वा०)	श	ष	स	ᳶ(उप०)
पार्श्विक				ळ	ल	
उत्क्षिप्त				ळ्ह	र	
अर्द्धस्वर			इ̱ (य)			उ̱(व)

पाली ध्वनि-समूह

पाली में दस स्वर अ आ इ ई उ ऊ ए ऍ ओ ऑ पाए जाते हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ऋ के स्थान में अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ औ के स्थान में पाली में ए ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऍ ऑ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी-किसी विभाषा में ह्रस्व ऍ ऑ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में तो इनका सर्वथा अभाव हो गया था (तेषां ह्रस्वाभावात्)। पाली के बाद ह्रस्व ऍ ऑ प्राकृत और अपभ्रंश में से होते हुए हिंदी में भी आ पहुँचे हैं।

व्यंजन

पाली में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग

नहीं होता। अंतिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग पाया जाता है, जैसे—सावको, दुक्ख, पुनप्पुनम्।

अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था।

पाली में श, ष, स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था। पर पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता है। परवर्ती काल की मध्यदेशीय प्राकृत में अर्थात् शौरसेनी में तो निश्चय से केवल स का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाए जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया था। पाली के काल में ही वर्त्स्य वर्ण अंतर्दंत्य हो गए थे। तालव्य स्पर्श-वर्ण उस काल में तालु-वर्त्स्य घर्ष-स्पर्श वर्ण हो गए थे। तालव्य व्यंजनों का यह उच्चारण पाली में प्रारंभ हो गया था और मध्य प्राकृतों के काल में जाकर निश्चित हो गया। अंत में किसी-किसी आधुनिक देश-भाषा के प्रारंभ-काल में वे ही तालव्य च, ज दंत्य घर्ष-स्पर्श और दंत्य ऊष्म स, ज़ हो गए।

प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है। उसमें भी वे ही स्वर और व्यंजन पाए जाते हैं। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत तो पाली से सभी बातों में मिलती है। उसमें पाली के ड़, ढ़ भी मिलते हैं। पर न और य शौरसेनी में नहीं मिलते। उनके स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में आकर भी ध्वनि समूह में कोई विशेष

अंतर नहीं देख पड़ता। शौरसेन अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः निम्नलिखित थीं—

स्वर

	पश्च	अग्र
संवृत		
ईषत्संवृत	ऊ, उ	ई, इ
	ओ, ओ	ए, ए
ईषत्विवृत	अ	
विवृत	आ	

व्यंजन

	काकल्य	कंठ्य	मूर्धन्य	तालव्य	तालु-वत्स्र्य	अंतर्दंत्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	ट ड			त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख, घ	ठ ढ			थ ध	फ भ
स्पर्श घर्ष					च ज		
					छ झ		
अनुनासिक		ङ	ण		ञ	न्ह, न	म्ह, म
पार्श्विक			ड़, ढ़		ल		
उत्क्षिप्त					र		
घर्ष अर्थात् सोष्म	ह					स	व, वॅ
अर्ध स्वर				य			व़

हिंदी ध्वनि-समूह

ये अपभ्रंश काल की ध्वनियाँ (१० स्वर और ३७ व्यंजन) सभी पुरानी हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और औ (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिंदी में मिलता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आए थे वे सब तद्भव बन गए थे। अंत में आधुनिक हिंदी का काल आता है। उसमें स्वर तो वे ही पुरानी हिंदी के १२ हैं, पर व्यंजनों में वृद्धि हुई है। क़, ख़, ग़, ज़, फ़ के अतिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगी हैं। केवल ऋ, ष, ञ् ऐसे व्यंजन हैं जो नागरी लिपि में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में आते भी हैं पर वे हिंदी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते, अतः उनका हिंदी में अभाव ही मानना चाहिए। इन हिंदी-ध्वनियों का विवेचन पीछे हो चुका है।

हिंदी के ध्वनि-विकारों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिये उसकी पूर्ववर्ती सभी आर्य भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। अभी जब तक इन सब भाषाओं का इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ है तब तक यह किया जाता है कि संस्कृत की ध्वनियों से हिंदी ध्वनियों की तुलना करके एक साधारण इतिहास बना लिया जाता है; क्योंकि संस्कृत प्राचीन काल की और हिंदी आधुनिक काल की प्रतिनिधि है। हिंदी-ध्वनियों का विचार तो तभी पूर्ण होगा जब मध्यकालीन भाषाओं का भी सुंदर अध्ययन हो जायगा।

रूप-विचार

हिंदी विभक्ति-प्रधान भाषा है अतः हिंदी का रूप-विचार

विभक्तियों का विवेचन मात्र होगा। विभक्ति का विचार हिंदी की संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया में ही मुख्यतः होता है अतः इन्हीं तीनों का हम आगे विचार करेंगे।

विभक्तियाँ

हिंदी के विद्वानों में विभक्तियों के संबंध में बहुत मतभेद है। कोई इन्हें प्रत्यय मानते हैं और इसी आधार पर इन्हें मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते हैं, परंतु दूसरों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों से उत्पन्न हुई हैं। जिस रूप में वे इस समय वर्त्तमान हैं, वह उनका संक्षिप्त रूप है। अतः हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

कर्त्ता कारक

कर्त्ता कारक की विभक्ति किसी आधुनिक आर्य भाषा में नहीं है। हिंदी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति लगती है। यह 'ने' विभक्ति पश्चिमी हिंदी का एक विशेष चिन्ह है। पूर्वी हिंदी में इसका पूर्ण अभाव है। यह 'ने' वास्तव में करण का चिन्ह है, जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता, इसलिये हम 'ने' को करण कारक का चिन्ह नहीं मानते। करण कारक का चिन्ह हिंदी में 'से' है। संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है। इसी 'इन' का वर्ण-विपरीत हिंदी रूप 'ने' है।

कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्ति हिंदी में 'को' है। इन दोनों कारकों के प्रयोग में स्पष्टता न होने के कारण प्रायः इनका

परस्पर उलट-फेर हो जाता है। यह हिंदी के लिये नई बात नहीं है। करण, अपादान और अधिकरण कारकों में प्रायः उलट-फेर हिंदी की पूर्ववर्तीय भाषाओं में भी हो जाता है। संस्कृत में सात कारक हैं—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण। पर संस्कृत वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। प्राकृतों में संप्रदान का प्रायः लोप हो गया है। साथ ही प्राकृतों में यह भी प्रवृत्ति देखी जाती है कि अन्य कारकों के स्थान में संबंध का प्रयोग होता है। इस प्रकार कारकों के केवल दो ही प्रत्यय अर्थात् कर्ता और संबंध के रह जाते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार एक कारक को कई का स्थानापन्न बनाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट देख पड़ती है। हेमचंद्र ने स्पष्ट लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध कारक के प्रत्यय से ही अपादान और संबंध दोनों का बोध होता है। आधुनिक भाषाओं में शब्दों के दो रूप हो जाते हैं—एक कर्त्ता का अविकारी रूप और दूसरा अन्य कारकों में विकारी अर्थात् कारक-चिन्हग्राही रूप। इससे भिन्न-भिन्न कारकों के प्रयोग में स्पष्टता हो जाती है, और इसे बनाए रखने के लिये आधुनिक भाषाओं में कारक-चिन्हग्राही रूपों में भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं। परंतु प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में कारकों के लोप अथवा एक दूसरे में लीन हो जाने के कारण आधुनिक हिंदी में कर्म और संप्रदान तथा करण और अपादान कारकों की एक ही विभक्ति रह गई है।

कर्म और संप्रदान कारक

बीम्स साहब का कथन है कि 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली है, जिसका विकार क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कक्खं, काँख, काहँ, काहूँ, कहूँ, कौं, कों और अंत में को। परंतु जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है उसमें, 'कक्षे' का प्रयोग संस्कृत

साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतः आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना करना उल्टी गंगा बहाना है। दूसरे लोग अम्हाकं, अम्हें, तुम्हाकं, तुम्हें, से हमको, हमें, तुमको, तुम्हें की उत्पत्ति मानकर इसी 'कं' या 'आकं' की और शब्दों में अतिव्याप्ति स्वीकार करते हैं।

संस्कृत की 'कृ' धातु से 'कृत' शब्द बनता है। इसका करण कारक का रूप 'कृतेन' और अधिकरण कारक का रूप 'कृते' होता है। ये दोनों कृतेन और कृते संप्रदान कारक का भाव प्रकट करते हैं, जैसे देवदत्तस्य कृते = देवदत्त के लिये। हेमचंद्र अपने व्याकरण (४।४२५) में लिखते हैं कि अपभ्रंश में 'केहि' निपात (अव्यय) तादर्थ्य (= के लिये) में प्रयुक्त होता है जो संप्रदान कारक का अर्थ प्रकट करता है। संस्कृत के कृत से अपभ्रंश का 'कअ' होता है, जिसका करण बहुवचन या अधिकरण एकवचन रूप 'कअहि' या 'कयहि' होता है। हेमचंद्र जिस 'केहि' का उल्लेख करते हैं, वह वास्तव में इसी 'कअहि' या 'कयहि' का विकृत रूप है। इसी 'केहि' से आधुनिक भाषाओं की संप्रदान कारक की विभक्तियाँ किही, कै, कू, कौ, को, काहु, किनु, गे, खे, कु, के, का आदि बनी हैं। हिंदी में इस 'को' विभक्ति के रूप ब्रजभाषा और अवधी में कहँ, काँ, के, कुँ, कूँ, कौं, कउँ और कें होते हैं। इन्हीं 'कहँ' 'को' आदि से आधुनिक हिंदी की 'को' विभक्ति बनी है, अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के कृते या कृतेन शब्द से अपभ्रंश में 'केहि' होती हुई हिंदी में 'को' हो गई है। कुछ लोग अपभ्रंश के 'केहि' निपात को 'कर + हि' के संयोग से बना हुआ मानते हैं, जो क्रमशः संबंध और संप्रदान कारक के प्रत्यय माने जाते हैं।

हिंदी में करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' है। दोनों

कारकों की एक ही विभक्ति होने का ठीक कारण नहीं जान पड़ता। पाली में इन दोनों का बहुवचनांत रूप एक सा होता है। संभव है, इसी उपमान से इनमें अभेद कर लिया गया हो। अधिकांश विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति से बताते हैं। प्राचीन हिंदी में अपादान के लिये 'तें' तथा 'सेंती' और 'हुंत', 'हुते' आदि विभक्तियाँ भी आई हैं। यह 'सेंती' तो स्पष्ट 'सुंतो' से निकली है और 'हुंत', 'हुते' प्राकृत की विभक्ति 'हिंतो' से। 'से' विभक्ति भी 'सुंतो' से निकली हुई जान पड़ती है। चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' शब्द 'से' के अर्थ में आया है, जैसे

करण और अपादान कारक

कहै कंति सम कंत। (१— ११)
कहि सनिकादिक इंद्र सम। (२—११०)
बलि लग्गौ जुध इंद्र सम। (२—२१८)

यह 'सम' संस्कृत के सह का पर्याय है और इसीसे आगे चलकर 'सन्' बना है जिसका प्रयोग अवधी में प्रायः मिलता है। अतएव बहुतों का मत है कि 'सम' से 'सन' तथा 'सन' से सौं, सें और अंत में से हो गया है। पर रासो में 'से', 'सम', 'हुँतो' आदि रूप का एक साथ मिलना यह सूचित करता है कि ये सब स्वतंत्र हैं, कोई किसी से निकला नहीं है।

संबंध कारक की विभक्ति 'का' है। वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध कारक का संबंध होता है, उसे भेद्य कहते हैं, और भेद्य के संबंध से संबंध कारक को भेदक कहते हैं। जैसे—'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' भेदक और 'घोड़ा' भेद्य है। हिंदी में भेद्य

संबंध कारक

इस विभक्ति का अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसके भी लिंग वचन होते हैं। और सब विभक्तियाँ तो दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में एक सी रहती हैं, केवल संबंध कारक की विभक्ति पुल्लिंग एकवचन में 'का', स्त्रीलिंग एकवचन में 'की', और स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों के बहुवचन में तथा पुल्लिंग भेद्य के कारक-चिह्न-ग्राही रूप के पूर्व प्रयुज्यमान भेदक की 'के' होती है। इसका कारण यह है कि भेदक एक प्रकार से विशेषण होता है और विशेषण का विशेष्य-निघ्न होना स्वाभाविक ही है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति का विवेचन करना उचित होगा। इस विभक्ति की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में कई मत हैं, जो नीचे दिए जाते हैं।

(क) संस्कृत में संज्ञाओं में इक, ईन, ईय प्रत्यय लगने से तत्संबंधी विशेषण मिलते हैं। जैसे—काय से कायिक, कुल से कुलीन, भारत से भारतीय। 'इक' से हिंदी में 'का', 'ईन' से गुजराती में 'नो' और 'ईय' से सिंधी में 'जो' तथा मराठी में 'चा' होता है।

(ख) प्रायः इसी तत्संबंधी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय 'क' आता है। जैसे—मद्रक = मद्र देश का, रोमक = रोम देश का। प्राचीन हिंदी में 'का' के स्थान में 'क' पाया जाता है, जिससे यह जान पड़ता है कि हिंदी का 'का' संस्कृत के 'क' प्रत्यय से निकला है।

(ग) प्राकृत में 'इदं' (संबंध) के अर्थ में 'केरओ' 'केरिअ' 'केरकं' आदि प्रत्यय आते हैं, जो विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं और लिंग में विशेष्य के अनुसार बदलते हैं। जैसे 'कस्स केरकं एदं पवहणं' (किसकी यह वहल है)। इन्हीं

प्रत्ययों से पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिंदी के केरा, केरो आदि प्रत्यय निकले हैं जिनसे हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय बनते हैं। पर इन्हें प्रत्यय कहना उचित नहीं जान पड़ता। प्रत्यय जिस प्रकृति से लाया जाता है, वह निर्विभक्तिक होती है, उससे विभक्ति का लोप हो जाता है। परंतु यहाँ 'केरकं' के पहले 'कस्स' सविभक्तिक है। हेमचंद्र ने 'केर' प्रत्यय (२।१४७) और संबंधवाचक 'केर' शब्द (४।४२२) दोनों का उल्लेख किया है। तुम्हकेरो, अम्हकेरो, तुज्झ बप्पकेरको (मृच्छक०) आदि में प्रयुक्त 'केर' को प्रत्यय और 'कस्स केरकं' के 'केर' को स्वतंत्र पद समझना चाहिए। हिंदी 'किसका' ठीक 'कस्स केरकं' से मिलता है। किस, 'कस्स' ही का विकार है। अतः 'किसका' में दुहरी विभक्ति की कल्पना करके चौंकना वृथा है।

(घ) प्राकृत इदमर्थ के क्क, इक्क, एच्चय आदि प्रत्ययों से ही रूपांतरित होकर आधुनिक हिंदी के 'का के, की' प्रत्यय हुए हैं।

(ङ) सर्वनामों के 'रा, रे, री' प्रत्यय केरा, केरो आदि प्रत्ययों के आद्य 'क' का लोप हो जाने से बने हैं।

यही भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ कुछ तथ्यांश प्रत्येक मत में जान पड़ता है, परंतु प्राकृत इदमर्थवाची केरओ, केरिअ, केरकं आदि से हिंदी की संबंध कारक की विभक्ति का निकलना (देखो ऊपर ग) अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। इस 'कृत' का बोलचाल की प्राकृत में, जिसका स्वाभाविक रूप भास के नाटकों में रक्षित है, 'केरओ' होता है। मृच्छकटिक की पंडिताऊ प्राकृत में यही 'केरकं' के रूप में मिलता है। हेमचंद्र में यही 'केर' के रूप में मिलता है (दे०—संबंधिनी केरतणौ–हेमचंद्र) और उससे पहले धनपाल में यही 'केरा', 'केरी' के रूप में मिलता है। पृथ्वीराज रासो में भी यह 'केरो' 'केरी' है। उदाहरणार्थ—

दौरे गज अंध चहुआन केरो । भिदी दृष्टि सों दृष्टि चहुआन केरी ।

अक्षरों तथा भाषाओं के क्रमशः विकार और लोप होने से इससे अवधी के "केरा, केरी, केर, कै, क" रूप हुए । जैसे—

यह सब समुद बुंद जेहि केरा । —जायसी
औ जमकात फिरै जम केरी । —जायसी
हौं पंडितन केर पछलगा । —जायसी
राम ते अधिक राम कर दासा । —तुलसी
धनपति उहै जेहि क संसारा । —तुलसी

पश्चिमी की 'का–के–की' विभक्तियाँ प्राकृत अपभ्रंशों से उतना मेल नहीं खातीं जितनी पूर्वी की देख पड़ती हैं । फिर भी 'केर' के 'र' के लोप हो जाने से 'के' का आविर्भाव सुगमता से हो जाता है, और जिस प्रकार पूर्वी का 'क' निकलता है, उसी प्रकार खड़ी बोली का 'का, के, की', व्रज का 'कौ' और कन्नौजिया का 'को' भी निकल सकता है । पूर्व और पश्चिम की उच्चारण-भिन्नता भी इस भेद का कारण हो सकती है । यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिमी ओकार-प्रियता रासो के 'केरो' और पूर्वी आकार-प्रियता जायसी के 'केरा' के लिये उत्तरदायी है ।

डाक्टर भंडारकर ने 'कीय' से 'केर' के निकालने में रूप-बाधा मानी है इसलिये वे कार्य से इन रूपों को निकालते हैं, पर यदि विचार किया जाय तो इस व्युत्पत्ति में भी बाधा है । संबंध भूत वस्तु है और कार्य भविष्य । संबंध हो चुका होता है और कार्य होनेवाला होता है । यदि 'कीय' से 'केर' की उत्पत्ति में रूप-बाधा थी तो कार्य में अर्थ-बाधा उपस्थित होती है । पर जैसा कि ऊपर कहा गया है 'कृत' को मूल मानने से कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती ।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार का अर्थ-विपर्यय संस्कृत में भी बहुधा हुआ है, अतएव यहाँ भी उसके मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ये विद्वान् पूर्वी 'केरो, केर, कर, क' का 'कृत' से 'कैरौ, करौ' होते हुए तथा पश्चिमी 'कौ, को, का, के, कु' को 'कृत' से कौ, किओौ, किरौ होते हुए मानते हैं। यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। पर जैसा कि हम कह चुके हैं संगति 'कृत' से 'केरओ, केरिअ, केरक' आदि होते हुए इन रूपों को निकालने में ही बैठती है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि संबंध कारक की विभक्तियों में लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर होने के कारण यह स्पष्ट है कि ये विभक्तियाँ वास्तव में विशेषण थीं और प्रारंभ में इनमें कारकों के कारण विकार होता था। अतएव 'का' विभक्ति का पूर्व रूप भी विशेषण का सा ही रहा होगा। संस्कृत 'कृ' धातु के कृदंत रूप 'कृतः' का अपभ्रंश में केरा, किरो, किओ, को और कयो होता है। इन अपभ्रंश रूपों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) को, किओ, किरो और (२) केरो, करो।

प्रथम श्रेणी के रूप स्पष्टतः संस्कृत के कृतः से निकले हैं। इसी का शौरसेनी अपभ्रंश रूप 'किरो' है। द्वितीय श्रेणी में केरो का प्रयोग तो अपभ्रंश में मिलता है, पर करो का नहीं मिलता। आधुनिक भाषाओं में इसके मिलने से यह मानना पड़ता है कि या तो इस रूप का प्रयोग था, अथवा यह केरो से विकृत होकर बना है। बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के कृतः से प्राकृत में करिओ हुआ जिससे केरो बना। कोई कोई प्राकृत के 'करिओ' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला हुआ मानते हैं। संभवतः इसका पुराना रूप 'करिद' न कि 'करिअ' हो सकता है,

पर 'करिद्' से 'केर' नहीं निकल सकता। यदि हम इसे 'कार्यः' से निकालते हैं, तो इसके अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। कृतः भूत कृदंत का रूप है और कार्यः भविष्य कृदंत का। भूत और भविष्य के भावों में बहुत भेद है, अतएव एक ही अर्थ के द्योतक शब्द को दोनों से निकला हुआ मानना ठीक नहीं। पर संस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ का विपर्यय होता है। अतः केरो और करो को सं० कार्यः, प्रा० करिओ से निकला हुआ मानने में कोई अड़चन नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के प्राकृत प्रत्ययों से कौ, को, का, के, कु निकले हैं और दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों से केरो, केर, कर, क निकले हैं।

पर इन व्युत्पत्तियों का आधार अनुमान ही अनुमान है। अतः हम इनके परम मूल की गवेषणा छोड़कर केवल प्राकृत के 'केर' 'क्क' प्रत्यय और अपभ्रंश के 'केर' या 'केरक' शब्द से ही इनकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा है। जिस प्रकार 'बलीवर्द' के दो खंडों—बली और वर्द से क्रमशः बैल और बर्दा एवं 'द्वे' के दो खंडों 'द' और 'वे' से क्रमशः हिंदी 'दो' और गुजराती तथा पुरानी हिंदी 'बे' निकले हैं, वैसे ही केरक से केर ('रामकेर' पश्चिमी अवधी) एर (बँगला), क (भोजपुरिया और पूर्वी अवधी) और 'का' का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य नहीं।

हिंदी में अधिकरण कारक का चिह्न 'में' है। यह संस्कृत के 'मध्ये' से निकला है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसके मज्झे, मज्झि, मज्झहिं रूप होते हैं। इन्हीं रूपों से अधिकरण कारक आधुनिक भाषाओं की विभक्तियों के दो प्रकार के रूप बन गए हैं। एक वह जिसमें 'झ' बना हुआ है, और दूसरा वह जिसमें 'झ' के स्थान में 'ह' हो गया

है। इन्हीं रूपों से मझि, माँझ, माहैं, माँहीं, माँही माह, महँ, माँ, मों और में रूप बने हैं। यह बीम्स तथा हार्नली का मत है।

वस्तुत: 'में' को पाली, प्राकृत के स्मि, म्हि, म्मि से ही उद्भूत मानना चाहिए। प्राकृत अथवा संस्कृत में जहाँ जहाँ मज्झहिं या मध्ये का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ उसके पूर्व में षष्ठी विभक्ति वर्त्तमान रहती है, अत: उसे मध्य शब्द का अर्थानुरोध से प्रयुक्त स्वतंत्र रूप ही समझना चाहिए, न कि अधिकरणता-बोधक विभक्ति। दूसरे पृथ्वीराजरासो आदि प्राचीन हिंदी काव्यों में साथ ही साथ 'माझ' आदि तथा 'में' का प्रयोग देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि मध्य से घिस घिसाकर 'में' उत्पन्न हुआ है। अत: 'म्मि' से ही 'में' निकला है, इसमें संशय नहीं। इसी 'म्मि' का केवल 'ह' अपभ्रंश में आता है। इसका सार यह निकला कि माझ, महँ आदि 'मध्य' और 'में', म्मि से व्युत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार हिंदी विभक्तियों की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों, विभक्तियों और प्रत्ययों से हुई है। यहाँ पर हम एक बात पर पुन: ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहले यह बात लिख चुके हैं कि भारतवर्ष की आधुनिक आर्यभाषाओं के दो मुख्य समुदाय हैं—एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग, और एक तीसरा समुदाय दोनों का मध्यवर्ती है। बहिरंग और अंतरंग समुदाय की भाषाओं में यह बड़ा भेद है कि पहली संयोगावस्था में है और दूसरी वियोगावस्था में अर्थात् पहली के कारक रूप प्राय: प्रत्यय लगाकर बनते हैं और दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। जैसे—हिंदी में कारक रूप बनाने के लिये 'घोड़ा' संज्ञा के साथ विभक्ति लगा कर घोड़े का, घोड़े को आदि बनाते हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि ये का, को आदि

स्वतंत्र शब्द थे; पर क्रमशः अपनी स्वतंत्रता खोकर अब सहायक मात्र रह गए हैं। इसके विपरीत बँगला भाषा को लीजिए, जिसमें 'घोड़े का' के स्थान में 'घोड़ार' और 'घोड़े को' के स्थान में 'घोड़ारे' होता है। यहाँ 'र' और 'रे' प्रत्यय लगाकर कारक के रूप बनाए गए हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अवस्था में स्वतंत्र शब्द सहायक बन जाने पर भी अपनी अलग स्थिति रखते हैं, और दूसरी अवस्था में वे प्रत्यय बनकर शब्दों के साथ मिलकर उसके अंग बन गए हैं।

प्रायः भाषाएँ अपने विकास की अवस्था में पहले वियोगात्मक होती हैं और क्रमशः विकसित होते होते संयोगात्मक हो जाती हैं। बहिरंग भाषाएँ भी आरंभ में वियोगात्मक अवस्था में थीं, पर क्रमशः विकसित होती हुई वे संयोगात्मक हो गई। अर्थात् प्रथम अवस्था में शब्द अलग अलग रहते हैं, और दूसरी अवस्था में वे विकृत शब्दों के साथ मिलकर उनके अंग बन जाते हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो पहले केवल संग लगे रहते थे, वे अब अंग हो गए हैं। हम यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। परंतु ऐसा करने के पहले हम प्राकृत और अपभ्रंश के एक मुख्य नियम पर ध्यान दिला देना चाहते हैं, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कुछ व्यंजन, जिनमें 'क' और 'त' सम्मिलित हैं, जब किसी शब्द के बीच में दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तब उनका लोप हो जाता है। परंतु यदि वे किसी शब्द के आरंभ में आते हैं, तो उनका लोप नहीं होता, चाहे उनके पूर्ववर्ती शब्द के अंत में स्वर हो और उनके पीछे भी स्वर हो, जैसे चलति का चलइ होता है। इस शब्द के स्वरों और व्यंजनों को अलग करने से ऐसा रूप होता है—च् + अ + ल + अ +

त्+इ। अब त् अक्षर अ और इ के बीच में आया है, इसलिये उसका लोप हो गया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए— कामस्स तत्त (=कामस्य तत्व) इसमें तत्त के प्रथम त का लोप नहीं हुआ, यद्यपि कामस्स का अंतिम 'स' अकारांत है और 'त' स्वयं भी अकारांत है। यहाँ इसका लोप इसलिये नहीं हुआ कि यह शब्द के आरंभ में आया है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि 'क' या 'त' का लोप तभी होता है, जब वह शब्द के बीच में आता है। शब्द के आरंभ में उसका लोप नहीं होता। अब हम किअअ, कर, करौ और तनौ इन तीन प्राचीन शब्दों को लेते हैं जो संबंध कारक के प्रत्यय बन गए हैं। हिंदी 'घोड़े का' 'घोड़हि कअअ' से बना है। यहाँ इस 'कअअ' के 'क' का लोप नहीं हुआ और वह आधुनिक 'का' रूप में क सहित वर्तमान है। अतएव यह 'का' का 'क' एक स्वतंत्र शब्द का आरंभिक अक्षर है, जो घोड़े के साथ मिलकर एक नहीं हो गया है। इसलिये यह कारक चिन्ह के रूप में वर्तमान है और व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय नहीं बन गया है। अब बँगला का 'घोड़ार' लीजिये जिसका अपभ्रंश रूप घोड़अ कर है। इसमें 'कर' का केवल 'अर' रह गया है। यहाँ आरंभिक 'क' का लोप हो गया है। वह 'क' मध्यस्थ होकर लुप्त हुआ है, इसलिये यह स्वतंत्र नहीं रहकर घोड़ा शब्द में लीन हो गया है। यहाँ यह कारकचिह्न न रहकर प्रत्यय बन गया है। बहिरंग भाषाओं में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं, पर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं, अतः उनके कारकों के सूचक सहायक शब्द उनके अंग बनकर उनसे संयुक्त हो गए हैं, और अंतरंग भाषाओं में, उनकी वियोगावस्था में रहने के कारण, व

वियुक्त रहे हैं। इस अवस्था में हिंदी के संज्ञा कारकों की विभक्तियों को शब्दों से अलग रखना उनके इतिहास से सर्वथा अनुमोदित होता है। इस संबंध में जानने की दूसरी बात यह है कि अंतरंग भाषाओं में कारक चिह्न या विभक्ति लगने के पूर्व शब्दों में वचन आदि के कारण विकार हो जाता है, पर बहिरंग भाषाओं में प्रत्यय लग जाने पर इन्हीं कारणों से विकार नहीं होता। यहाँ एक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाए रखता है और दूसरा अपना अस्तित्व सर्वथा खो देता है।

जिस प्रकार अंतरंग-बहिरंग भेद के प्रयोजक अन्य कारणों का दौर्बल्य हम पहले दिखा चुके हैं उसी प्रकार संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्बल ही है। अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भाषाओं में संयोगावस्थापन्न रूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है, किसी में कोई। पश्चिमी हिंदी और अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक चिह्नों के पूर्व विकारी रूप ही प्रयोग में आते हैं, जैसे— 'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह 'घोड़े' घोड़हि (=घोटस्य अथवा घोटक+तृतीया बहुवचन विभक्ति हि=भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अंतरंग मानी गई भाषा का है। इसके विपरीत बहिरंग मानी गई बँगला का 'घोड़ार' और बिहारी का 'घोराक' रूप संयोगावस्थापन्न नहीं किंतु 'घोटक कर' और 'घोटक क, क्क' से घिस-घिसाकर बना हुआ संमिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी गई जिस पश्चिमी हिंदी में वियोगावस्थापन्न रूप ही मिलने चाहिएँ, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों ही के द्वारा होना चाहिए, उसी में

प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाए जाते हैं जो नितांत संयोगावस्थापन्न हैं, अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण लीजिए—

कर्ता एकवचन—घोड़ो (ब्रज०), घोड़ा (खड़ी बोली), घरु (ब्रज० नपुंसक लिंग)।

कर्ता बहुवचन—घोड़े (< घोड़ेह < घोड़हि = तृतीया बहुवचन, 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आँखों (< अक्खिहिं, खुसुरु वाको आँखों दीठा—अमीर खुसरो) कानों (< कण्णहि)।

करण—(कर्ता)-मैं (ढोला मइँ तुहुँ वारिआ ; मैं सुन्यौ साहि बिन अंषि कीन—पृथ्वी०) तैं, मैंने, तैंने (दुहरी विभक्ति)।

अधिकरण एकवचन—घरे, आगे, हिंडोरे (बिहारीलाल), माथे (सूरदास)।

अपादान एकवचन—भुक्खा (= भूख से, बाँगड़ू) भूखन, भूखों (ब्रज०, कन्नौजी)।

दूसरे बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिंदी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है घोड़े दा (= घोड़े का), घोड़े ने, घोड़े नूं इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में पश्चिमी हिंदी से बढ़कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती, अतः उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है।

अब हम हिंदी के सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे।

सर्वनाम

इनमें विशेषता यह है कि इनमें से कुछ तो संयोगावस्था में हैं और कुछ वियोगावस्था में। एक एक सर्वनाम को लेकर हम इस संबंध में विवेचन करेंगे।

मैं, हम

संस्कृत के अस्मद् शब्द का करण कारक का रूप संस्कृत में 'मया', प्राकृत में 'मइ' और अपभ्रंश में 'मइँ' होता है, जिससे हिंदी का 'मैं' शब्द बना है। संस्कृत के अस्मद् शब्द के कर्ता कारक का रूप संस्कृत में 'अहं', प्राकृत में 'अम्हि' और अपभ्रंश में 'हउं' होता है, जिससे हिंदी का 'हौं' शब्द बना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता का 'हौं' (मैं) प्रथमा का परंपरागत रूप है और आधुनिक 'मैं' तृतीया से बना है। बहुवचन में संस्कृत के 'वयं' का रूप लुप्त हो गया है, यद्यपि प्राकृत में 'वयं' का 'वअं' और पाली में 'मयं' रूप मिलता है। पर अपभ्रंश में यह रूप नहीं देख पड़ता। बहुवचन में प्राकृत में अम्हे, अम्हो और अपभ्रंश में अम्हइँ, अम्हेइँ आदि रूप मिलते हैं। 'अ' का लोप होकर और 'म' 'ह' में विपर्यय होकर हम रूप बन गया है। मार्कंडेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व के १७वें पाद के ४८वें सूत्र में अस्मद् के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है। परंतु उन्होंने यह रूप एक-वचन में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के लिये इस प्रकार का वचन-व्यत्यय कोई नई बात नहीं। कारकग्राही या विकारी रूपों में हिंदी में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक में हिंदी की विभक्ति लगती है और दूसरे में नहीं लगती। जैसे—कर्म कारक में मुझे और मुझको, हमें और हमको दोनों रूप होते हैं, पर अन्य कारकों में मुझ के साथ विभक्ति अवश्य लगती है। मुज्झ और मुज्झे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में मिलते हैं, जिनसे हिंदी का मुझ रूप बना है। संबंध कारक में कृतः के केरौ, करौ रूपों के आरंभिक 'क' के लुप्त हो जाने से 'रो' या 'रा' अंश बच रहा है, जो कई भाषाओं में अब तक षष्ठी विभक्ति का काम देता है। इस 'रा' प्रत्यय में 'में' के लगाने से 'मेरा' रूप बनता

है और इसके अनुकरण पर बहुवचन का रूप बनता है। सारांश यह है कि अस्मद् से प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा होते हुए ये सब रूप बने हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कारकग्राही रूपों में 'मुज्झ' रूप स्वयं कारक प्रत्यय सहित है, पर हिंदी में इस बात को भूलकर उसमें पुनः विभक्तियाँ लगाई गई हैं।

तू, तुम, आप

इनमें से तू और तुम रूप युष्मद् से बने हैं। संस्कृत के युष्मद् शब्द का कर्ता एकवचन रूप प्राकृत में तुं, तुमं, और अपभ्रंश में तुह होता है, जिससे तू या तूँ और तुम बने हैं। इसी प्रकार कारकग्राही रूप भी प्राकृत और अपभ्रंश के तुज्झ के रूप से बने हैं। 'आप' रूप संस्कृत के आत्मन् शब्द से निकला है, जिसका प्राकृत अप्पा और अपभ्रंश रूप अप्पण होता है, और जो इसी अथवा अप्पन, अपन आदि रूपों में राजपूताने तथा मध्य प्रदेश आदि में अब तक प्रचलित है, शेष सब बातें मैं और हम के समान ही है।

यह

संस्कृत के एतद् शब्द के कर्ता का एकवचन एषः होता है, जिसका प्राकृत में एसो और अपभ्रंश में एहो होता है। इसी से 'यह' के भिन्न-भिन्न रूप जैसे—ई, यू, ए, एह आदि बने हैं। इस 'यह' का बहुवचन 'ये' होता है, जो इस 'एतद्' शब्द के अपभ्रंश रूप 'एह' से बना है। कुछ लोग इसे संस्कृत 'इदम्' से भी निकालते हैं, जिसका प्राकृत रूप 'अयं' और अपभ्रंश 'आअ' होता है। इसका कारकचिन्ह-ग्राही रूप 'एतद्' के प्राकृत रूप 'ऐसो, एस, एअस्स' और अपभ्रंश 'एइसु' अथवा 'इदम्' के प्राकृत रूप 'अस्स' और अपभ्रंश 'अयसु' से निकला है। संबंध कारक का रूप भी इसी कारकचिन्ह ग्राही रूप के

अनुसार होता है, केवल विभक्ति ऊपर से लगती है। सर्वनामों में यह विचित्रता है कि उनका संबंधकारक का रूप संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के षठ्यंत रूप से बनता है। पर इसमें कारक-प्रत्यय का समावेश शब्द में हो जाता है और पुनः विभक्ति लगती है।

वह, वे — ये संस्कृत के अदस् शब्द से निकले हैं जिनका प्राकृत रूप 'अह' 'अमू' और अपभ्रंश रूप 'ओह' बहुवचन होता है जिससे अ, वै, ओ, वौ, वह, उह आदि रूप बने हैं। कारकचिन्हग्राही तथा संबंधकारक का रूप प्राकृत 'अमुस्स' से निकलता है।

सो, ते — ये संस्कृत सः, प्राकृत सो, अपभ्रंश सो से निकले हैं। बहुवचन संस्कृत का 'ते' है ही। कारकचिन्हग्राही तथा संबंधकारक का रूप संस्कृत तस्य, प्राकृत तस्स, तास, अपभ्रंश तासु, तसु से बना है।

जो — संस्कृत यः, प्राकृत जो, अपभ्रंश जु। 'जो' प्राकृत से सीधा आया है। संबंध का विकारी रूप यस्य, जस्स जासु, जसु से निकला है।

कौन, किस, क्या — कौन—संस्कृत कः, प्राकृत को, अपभ्रंश कवणु से बना है। किस–संस्कृत कस्य, प्राकृत कस्स, कास, अपभ्रंश कासु से निकला है। क्या–संस्कृत किम्, अपभ्रंश काइँ और काहि प्राकृत के अपादान कारक रूप काहे से सीधा आया है।

कोई-किसी — कोई संस्कृत कोऽपि, प्राकृत कोवि, अपभ्रंश कोवि अथवा को+हि के 'ह' के लोप हो जाने से बना है, और किसी कस्य, कस्स, कासु+ही (सं० हि) से व्युत्पन्न है।

इन सब सर्वनामों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विशेषता है कि इन सब का विकारी रूप षष्ठी या कहीं कहीं सप्तमी के रूप से बना है और उनके आदि कारक प्रत्यय उनके साथ में लगे हुए रहकर भी आधुनिक भाषाओं में आकर अपने व्यापार से च्युत हो गए हैं, इसलिए नई विभक्तियाँ लगाकर उन्हें कार्यकारी बनाया गया है। सब के बहुवचन एक ही प्रकार से 'न' या 'न्ह' से बने हैं। ये सब रूप एक ही ढंग से बने हैं। इनका कोई अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है, सब एक ही साँचे में ढले हैं।

आधुनिक हिंदी में वास्तविक तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का बहुत कुछ लोप हो गया है। ब्रजभाषा और अवधी

क्रियाएँ

में तो इनके रूप मिलते हैं, पर खड़ी बोली में यह बात नहीं रह गई है। हाँ, आज्ञा या विधि की क्रियाएँ अवश्य इससे भी शुद्ध साध्यावस्थापन्न हैं जिनमें लिंग भेद नहीं होता। अब हिंदी में अधिकांश क्रियाएँ दो प्रकार से बनती हैं एक तो 'है' की सहायता से और दूसरे भूतकालिक कृदंत के रूपों से। 'है'। पहले वास्तविक क्रिया थी और अब भी रहना के अर्थ में उसका प्रयोग होता है, जैसे—'वह है'। पर इसका अधिकतर कार्य दूसरी क्रियाओं की सहायता करके उनके भिन्न भिन्न रूप बनाना तथा कालों की व्यवस्था करना है। जैसे—वह जाता है, मैं गया था इत्यादि। नीचे दिए कोष्ठक में ब्रजभाषा और अवधी के उदाहरण देकर हम यह दिखलाते हैं कि कैसे उन दोनों भाषाओं में पहले स्वतंत्र क्रियाएँ थीं और अब उनका लोप हो जाने पर उनका स्थान कृदंत क्रियाओं ने ग्रहण कर लिया है और उनका कार्य सहायक क्रिया 'है' के द्वारा संपादित होता है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकवचन						
उ० पु०	चलामि	चलामि	चलउँ	चलौ	चलौ	चलता हूँ
म० पु०	चलसि	चलसि	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलता है
अ० पु०	चलति	चलइ	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलता है
बहुवचन						
उ० पु०	चलामः	चलमो	चलहुँ, चलिहुँ	चलै	चलै	चलते हैं
म० पु०	चलथ	चलह	चलहुँ	चलौ	चलहु	चलते हैं
अ० पु०	चलंति	चलंति	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलते हैं

इन उदाहरणों में वर्त्तमान काल के 'चलता', 'चलती' आदि क्रियांश वर्त्तमानकालिक धातुज विशेषण हैं। सं० चलन् (चलंत) चलंती आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। इनको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले 'है' का भाव क्रियाओं में ही सम्मिलित था, पर पीछे से खड़ी बोली में ये क्रियाएँ कृदंत रूप में आ गईं और भिन्न भिन्न पुरुषों, वचनों, कालों, प्रयोगों आदि का रूप सूचित करने के लिये 'है' के रूप साथ में लगाए जाने लगे। यही व्यवस्था भविष्यत् काल की भी है। हाँ, उसमें भेद यह है कि ब्रजभाषा में उसके दोनों रूप मिलते हैं, पर अवधी तथा खड़ी

बोली में एक ही रूप मिलता है। यह बात भी नीचे दिए हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
एक० व०						
उ० पु०	चलिष्यामि	चलिस्सामि चलिहिमि	चलिस्सउँ, चलिहिउँ	चलिहउँ चलूँगो	चलिहउँ	चलूँगा
म० पु०	चलिष्यसि	चलिस्ससि, चलिहिसि	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
अ० पु०	चलिष्यति	चलिसइ चलिहिइ	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि, चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
बहु० व०						
उ० पु०	चलिष्यामः	चलिस्सामो चलिहिमो	चलिस्सहुँ चलिहिउँ	चलि हैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे
म० पु०	चलिष्यथ	चलिस्सह, चलिहिह	चलिस्सहु, चलिहिहु	चलिहौ, चलैंगे	चलिहौ	चलोगे
अ० पु०	चलिष्यंति	चलिस्संति, चलिहिंति	चलिस्सहिं चलिहहि	चलि हैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे

भूतकाल के रूप सबसे विचित्र हैं। ये सब संस्कृत के कृदंतों से बने हैं, जैसे—संस्कृत 'चलितः', प्राकृत 'चलिओ', अपभ्रंश 'चलिअ' से 'चला' बना है। कृदंत होने के कारण ये विशेषण-वत् प्रयुक्त होते हैं, इसलिये इनके रूपों में लिंग और वचन के कारण विकार होता है, उदाहरणार्थ आगे का दूसरा कोष्ठक देखिए।

पुरुष	ब्रजभाषा		अवधी		खड़ी बोली	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
एकवचन						
उ० पु०	चल्यो	चली	चलेउँ (चल्यों)	चलिउँ	चला	चली
म० पु०	"	"	चलिस, चले (चल्यो)	चलिसि, चली	चले	चली
अ० पु०	"	"	चला	चली	चला	चली
बहुवचन						
उ० पु०	चले	चलीं	चलेन्हि	चलीं	चले	चलीं
म० पु०	चले	"	चलेहु (चल्यो)	चलिहु, चलिउ	चले	चलीं
अ० पु०	चले	"	चलेन्हि	चलो	चले	चलीं

उक्त कोष्ठक के उदाहरण साधारण भूतकाल के हैं। पर यहाँ यह जान लेना उचित है कि इनका प्रयोग तीन प्रकार से होता

है—कर्तरि, कर्मणि और भावे। संस्कृत में 'स चलितः', प्राकृत में 'सो चलिओ', अपभ्रंश में 'सो चलिअ' हुआ, जिससे हिंदी का 'वह चला' बना। यहाँ 'वह' कर्त्ता है और 'चला' कृदंतक्रिया है। कर्त्ता के अनुशासन में क्रिया के होने से इसका लिंग और वचन कर्त्ता के अनुसार होता है, जैसे—वह चली, वे चलीं। इस प्रकार के प्रयोग को कर्तरि प्रयोग कहते हैं। परंतु यदि क्रिया सकर्मक होती है, तो वहाँ कर्मणि प्रयोग होता है। संस्कृत में 'स मारितः' का अर्थ 'स चलितः' के समान यह नहीं होता कि 'उसने मारा', वरन् उसका अर्थ होता है 'वह मारा गया'। यदि हम यह कहना चाहें कि 'उसने उसको मारा' तो हमें 'तेन सः मारितः' कहना होगा। यहाँ क्रिया का अनुशासन 'तेन' से न होकर 'सः' से होता है। इसी प्रकार 'वह मार्‍यो' का अर्थ 'सः मारितः' के समान होगा। परंतु यदि 'उसने मारा' कहना होगा, तो 'वाने मार्‍यो' कहा जायगा। फिर 'वाने मानुस मार्‍यो' 'वाने स्त्री मारी' इस प्रकार के प्रयोग होंगे। अतएव यहाँ भी क्रिया का अनुशासन कर्ता नहीं वरन् कर्म करता है। इस प्रकार के प्रयोगों को कर्मणि प्रयोग कहते हैं। परंतु जहाँ कर्म के साथ 'को' विभक्ति लगा दी जाती है, वहाँ क्रिया स्वतंत्र हो जाती है। जैसे—उसने लड़की को मारा। ऐसे प्रयोग भावे प्रयोग कहलाते हैं। सकर्मक क्रियाओं के साथ या तो कर्मणि या भावे प्रयोग होता है और अकर्मक क्रियाओं के साथ कर्तरि प्रयोग। वर्तमान और भविष्य कृदंतों में केवल कर्तरि प्रयोग होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी में कृदंत क्रियाओं का बहुत प्रयोग होता है। इन्हीं से तीनों कालों के रूप बनते हैं और 'है' के रूपों के सहायक बनाकर वर्त्तमान काल और भूत काल में उनका व्यापार स्पष्ट किया जाता है। जैसे—चलता है।

चला है, चला था, चलता था। अतएव 'है' क्रिया हिंदी के भूत और वर्त्तमान कालों को सूचित करने के लिये नितांत आवश्यक है।

यह 'है' कहाँ से आया, अब इसका संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

'है' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई जाती है—एक तो 'भू' धातु से और दूसरी 'अस्' धातु से। 'भू' का प्राकृत अपभ्रंश

है

में 'हो' होता है, जैसे—भवति का हवइ, हवेइ, होइ आदि। पर अस का 'अच्छ' तो होता है, 'अह' नहीं होता। प्राकृतों में 'थ' और 'घ' का तो 'ह' में परिवर्तन हो जाता है, पर 'स' का 'ह' होना नहीं मिलता। साथ ही हिंदी में अहैं, अहेउँ, अहेस, अहो आदि रूप भी मिलते हैं, जो भू, हुव, हुअ से तब तक बने नहीं जान पड़ते, जब तक यह न मान लिया जाय कि 'हुअ' में 'अ' का विपर्यय हो गया है अथवा उसका आगम हुआ है। इस अवस्था में यही मान लेना चाहिए कि भू से आधुनिक हिंदी के 'हो' धातु से ही ये भिन्न-भिन्न रूप बने हैं। अथवा जिस प्रकार 'करिष्यति' से > करिस्सदि > करिसइ > करिहइ > करिहै बनने में 'स' का 'ह' हो गया है, उसी प्रकार अस् के 'स' का 'ह' होना मान कर भी इन रूपों की सिद्धि कर सकते हैं।

'था' के विषय में भी विद्वानों में दो मत हैं। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति 'स्था' धातु से मानते हैं, जिसका प्राकृत और अपभ्रंश

था

में 'ठा' या 'था' रूप हो जाता है। हमारी हिंदी में भी 'स्थान' का 'थान' रूप बनता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह 'अस' धातु के 'स्थ' रूप से बना है। हमें पहला मत ठीक जान पड़ता है। 'स्था' धातु का सामान्य भूत (लुङ्) में 'अस्थात्' रूप होता है। उससे उसी काल का

'था' रूप बड़ी सुगमता से व्युत्पन्न हो सकता है। दूसरा मत इसलिये ठीक नहीं है कि 'स्थ' वर्त्तमानकाल के मध्यम पुरुष का बहुवचन है। उससे भूतकालिक एकवचन 'था' की उत्पत्ति मानना द्रविड़ प्राणायाम करना है।

संस्कृत के गम् धातु का कृदंत रूप 'गतः' होता है। इसका प्राकृत 'गओ' या 'गअ' होता है। इसी ग+अ=गा से भविष्यत् काल का चिन्ह 'गा' बनता है। चलेगा में 'गा' की क्या करतूत है, सो देखिए। 'चलिष्यति' > चलिस्सदि > चलिस्सइ > चलिसइ > चलिहइ > चलिहि > चलिइ > चली (भोजपुरिया) रूप भी बनता है और चलि > चले भी बनता है। यह पिछला चले यद्यपि स्वयं भविष्यत् काल का बोधक है, तथापि इतना घिस गया है कि पहचाना तक नहीं जाता। अतः उसमें 'गा' जोड़ कर उसे और व्यक्त बनाते हैं। इस अवस्था में इसका अक्षरार्थ यही हो सकता है कि 'चलने के निमित्त गया'।

गा

अर्थ-विचार

यदि हिंदी शब्दों के अर्थों का इतिहास देखा जाय तो बड़ी मनोरंजक कहानी प्रस्तुत हो सकती है। आज भी न जाने कितने शब्द भारोपीय तथा अति प्राचीन वैदिक काल का स्मरण करा देते हैं, पर अब उनके अर्थों में बड़ा अंतर आ गया है। एक धर्म शब्द ही लिया जाय तो वह वेद से लेकर आज तक अनेक अर्थों में प्रयुक्त हो चुका है और वर्तमान हिंदी में उसका अर्थ रह गया है मजहब, रिलिजन (religion) अथवा संप्रदाय।

यदि समास और वाक्य रचना आदि का विकास देखा जाय तो संस्कृत के काल से लेकर आज तक बड़े परिवर्तन हुए हैं।

हिंदी के शब्द भांडार पर ही नहीं समास-रचना, वाक्य-रचना आदि पर भी विदेशी प्रभाव पड़ा है। अतः यहाँ हम हिंदी अर्थ-विचार का उचित विवेचन न कर सकने पर भी विद्यार्थी का ध्यान उस अंग की ओर खींचना आवश्यक समझते हैं क्योंकि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन पूर्ण और सांग बनाने के लिये अर्थ-विचार भी आवश्यक होता है।

जैसा हम आरंभ में कह चुके हैं, हमारे इस अध्याय के तीन भाग हो सकते हैं, पहले भाग में हमने ध्वनि शिक्षा के आधार पर ध्वनियों का परिचय प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में व्याकरण में दिए हुए रूपों के आधार पर रूपों का विचार हुआ है। अब इस तीसरे भाग में शब्दकोश के आधार पर शब्दों के अर्थों का वर्गीकरण तथा विवेचन होगा। इस प्रकार पहले हम ध्वनियों का विचार करते हैं, फिर वे ध्वनियाँ जिन रूपों में प्रयुक्त होती हैं उनपर हम विचार करते हैं और अंत में उन निष्पन्न और प्रयुक्त शब्दों में भरे हुए अर्थों का विचार किया जाता है। ध्वनियों की गणना होती है, रूपों का भी व्याकरण में प्रायः परिगणन हो जाता है पर शब्द-भांडार तो बड़ा विशाल और वास्तव में गणनातीत होता है। भांडार न कहकर उसे तो सागर कहना चाहिए। और यदि शब्दसागर के सभी शब्दों का वर्गीकरण, विवेचन और व्युत्पत्ति देने लगें तब तो न जाने कितने हजार पृष्ठ लिखे जाने पर भी प्रकरण पूरा न होगा। यद्यपि हिंदी भाषा का इस प्रकार का अर्थ-विचार अपेक्षित है तथापि यहाँ पर हम इने गिने उदाहरण लेकर ही अपना काम चलावेंगे।

अर्थ के विचार से शब्दों के तीन प्रकार होते हैं—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे सीधे कहनेवाला वाचक कहलाता है। लक्षण अथवा लाक्षणिक शब्द

बात को लखा भर देता है, अभिप्रेत अर्थ को लक्षित मात्र करता है, और व्यंजक शब्द (मुख्य अथवा लक्ष्य अर्थ के अतिरिक्त) एक तीसरी बात की व्यंजना करता है, उससे प्रकरण, देश, काल आदि के अनुसार एक अनोखी ध्वनि निकलती है। उदाहरणार्थ यह मेरा घर है—इस वाक्य में घर शब्द वाचक है, अपने प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; पर सारा घर खेल देखने गया है—इस वाक्य में घर उसमें रहनेवालों का लक्षक है अर्थात् यहाँ घर शब्द लाक्षणिक है और यदि कोई अपने आफिसर मित्र से बात करते करते कह उठता है, 'यह घर है, खुल कर बातें करो' तब घर कहने से यह ध्वनि निकलती है कि यह आफिस नहीं है। यहाँ घर शब्द व्यंजक है।

शब्द के तीन भेद

इन सभी प्रकार के शब्दों का अपने अपने अर्थ से एक संबंध रहता है। उसी संबंध के बल से प्रत्येक शब्द अपने अपने अर्थ का बोध कराता है। बिना संबंध का शब्द अर्थहीन होता है—उसमें किसी भी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। संबंध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संबंध की शक्ति से ही शब्द इस अर्थमय जगत् का शासन करता है, लोकेच्छा का संकेत पाकर चाहे जिस अर्थ को अपना लेता है, चाहे जिस अर्थ को छोड़ देता है। इसी संबंध-शक्ति के घटने बढ़ने से उसके अर्थ की ह्रास-वृद्धि होती है। इसी संबंध के भाव अथवा अभाव से उसका जन्म अथवा मरण होता है। अर्थात् संबंध ही शब्द की शक्ति है, संबंध ही शब्द का प्राण है। इसी से शब्द-तत्व के जानकारों ने कहा है 'शब्दार्थसंबंधः शक्तिः'—शब्द और अर्थ के संबंध का नाम शक्ति है।

शक्ति

शक्ति और अर्थ

जिस प्रकार शब्द तीन प्रकार के होते हैं उसी प्रकार शक्ति और अर्थ के भी तीन तीन भेद होते हैं। (१) वाचक शब्द की शक्ति अभिधा कहलाती है और उसके अर्थ को अभिधेयार्थ, सामान्य अर्थ, वाच्य अर्थ अथवा मुख्य अर्थ कहते हैं। (२) लक्षक शब्द की शक्ति लक्षणा कहलाती है और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ, औपचारिक अथवा आलंकारिक अर्थ कहते हैं। (३) व्यंजक शब्द की शक्ति व्यंजना कहलाती है और उसके अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार शब्द, शब्दशक्ति और शब्दार्थ को समझ लेने पर एक बात पहले ध्यान में रखकर तब आगे बढ़ना चाहिए। वह यह है कि साहित्यिकों और भाषा-वैज्ञानिकों की अध्ययन प्रणाली में थोड़ा अंतर होता है। साहित्यिक लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों की ओर विशेष ध्यान देता है और भाषा-वैज्ञानिक अभिधा की ओर। भाषा-वैज्ञानिक प्रयोग की व्याख्या नहीं करता और न उसके रस की मीमांसा करता है। वह तो कोष में गृहीत अर्थों को लेकर अपना ऐतिहासिक विवेचन शुरू कर देता है। आगे चलकर जब आवश्यकता पड़ती है तब वह रुक जाता है और इस पर विचार करता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ पहले किन लक्षणा, व्यंजना, आदि शक्तियों की कृपा से विकसित हुआ है। इस प्रकार उसे प्रारंभ में और अपने नित्य के अध्ययन में कोष के अभिधेयार्थ से ही काम पड़ता है। यद्यपि कोष में लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थ भी दिए रहते हैं पर शास्त्र और व्यवहार दोनों के विचार से लक्षणा और व्यंजना का प्रभाव तो प्रयोग में ही स्पष्ट होता है, कोष में नहीं। सच पूछा जाय तो जो अर्थ कोष में लिख जाता है उसमें केवल अभिधा शक्ति ही

रह जाती है। यह बात विचार करने पर सहज ही समझ में आ जाती है। अतः हम लक्षणा,[1] व्यंजना[2] की अधिक चर्चा यहाँ न करके अभिधा से ही प्रारंभ करते हैं।

कुछ लोग अभिधा को ही शब्द की वास्तविक शक्ति समझते हैं। इस अभिधा शक्ति के तीन सामान्य भेद होते हैं। रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि। इसी शक्ति-भेद के अनुसार शब्द और अर्थ भी रूढ़, यौगिक अथवा योगरूढ़ होते हैं। मणि, नूपुर, गौ, हरिण आदि शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं हो सकती रूढ़ कहलाते हैं। इन शब्दों में रूढ़ि की शक्ति व्यापार करती है, और जिन शब्दों की शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा व्युत्पत्ति की जा सकती है वे यौगिक कहलाते हैं। जैसे याचक, सेवक आदि शब्द यौगिक हैं, क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति तो की जाती पर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ से मेल नहीं खाता। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। पंकज का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पंक से उत्पन्न होनेवाला, पर अब वह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।

अभिधा के तीन भेद

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो केवल धातुएँ ही रूढ़ कही जा सकती हैं। चंद्रालोक के कर्ता जयदेव ने भी धातुओं को ही निर्योग माना है। धातु के अतिरिक्त अन्य शब्दों को रूढ़ मानना अज्ञान की स्वीकृति मात्र है। सभी शब्दों की उत्पत्ति धातु और प्रत्यय के योग से होती है। जिन शब्दों की उत्पत्ति अज्ञात रहती है उन्हें

पहला वर्गीकरण— रूढ़ि, योग तथा योगरूढ़ि पर भाषा-वैज्ञानिक विचार

१,२—देखो लेखक की पुस्तक 'काव्य-कलाप' प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग।

व्यवहारानुरोध से रूढ़ मान लिया जाता है। वास्तव में वे अव्यक्त योग मात्र हैं, उनके योगार्थ का हमें ज्ञान नहीं है। अतः धातु में हम शब्द की निर्योग और रूढ़ अवस्था का दर्शन करते हैं। दूसरी अवस्था में धातु से प्रत्यय का योग होता है और यौगिक शब्द सामने आता है।

संस्कृत व्याकरण की वृत्तियाँ इस अवस्था का सुंदर निदर्शन कराती हैं। पहले धातु से कृत् प्रत्यय लगता है, जैसे पच् धातु से पाचक बनता है। फिर धातुज शब्द से तद्धित प्रत्यय लगता है तो पाचकता आदि शब्द बन जाते हैं। इन दोनों प्रकार के यौगिक शब्दों से समास बनते हैं। एक यौगिक शब्द दूसरे यौगिक शब्द से मिलकर एक समस्त (यौगिक) शब्द को जन्म देता है। कभी-कभी दो शब्द इतने अधिक मिल जाते हैं कि उनमें से एक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। शब्द की इस वृत्ति को एकशेष कहते हैं। जैसे माता और पिता का योग होकर एक यौगिक शब्द बनता है 'पितरौ'। इन चार वृत्तियों से नाम-शब्द ही बनते हैं पर कभी-कभी नाम के योग से धातुएँ भी बनती हैं, जैसे पाचक से पाचकायते बनता है। ऐसी योगज धातुएँ नामधातु कहलाती हैं और उनकी वृत्ति धातुवृत्ति कहलाती है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो भाषा के सभी यौगिक शब्द इन पाँच वृत्तियों के अंतर्गत आ जाते हैं। कृदंत, तद्धितांत, समास, एकशेष और नाम धातुओं को निकाल लेने पर भाषा में केवल दो ही प्रकार के शब्द रह जाते हैं—धातु और प्रातिपदिक (अव्युत्पन्न रूढ़ शब्द)। इस प्रकार भाषा रूढ़ और यौगिक-इन्हीं दो प्रकार के शब्दों से बनती है। पर अर्थातिशय की दृष्टि से एक प्रकार के शब्द ऐसे होते हैं जो यौगिक होते हुए भी रूढ़

हो जाते हैं, ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। यह शब्द की तीसरी अवस्था है। जैसे धवल-गृह का अर्थ होता है 'सफेदी किया हुआ घर', पर धीरे-धीरे धवल-गृह का प्रयोगातिशय से 'महल' अर्थ होने लगा। इस अवस्था में धवलगृह योगरूढ़ शब्द है। धवलः गृहः और धवल-गृह का अब पर्याय जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। यही योगरूढ़ि संस्कृत के नित्य समासों का मूल कारण है।

'कृष्णसर्पः' है तो यौगिक शब्द, पर धीरे-धीरे उसका संकेत एक सर्प विशेष में रूढ़ हो गया है। अतः वह समस्तावस्था में ही उस विशेष अर्थ का बोध करा सकता है अर्थात् 'कृष्ण सर्प' में नित्य समास है। कुछ विद्वानों ने तो सभी समासों को योगरूढ़ माना है। विग्रहवाक्य की अपेक्षा समास में सदा अर्थ वैशिष्ट्य रहता है इसी से नैयायिकों के अनुसार समास[1] में एक विशेष शक्ति आ जाती है। सच पूछा जाय तो प्रयोगातिशय से समृद्ध भाषा के अधिक शब्दों में योगरूढ़ि पाई जाती है। अर्थातिशय के विद्यार्थी के लिये योगरूढ़ि का अध्ययन बड़ा लाभकर होता है।

हिंदी के समास

साहित्यिक खड़ी बोली में आजकल संस्कृत के ही समास अधिक चलते हैं पर डाकखाना, रामदाना, लोहूलुहान, मनचाही, मनमानी, मनचली, पियराकाटी, लाठीमार, गिरहकट, बदरफट, रातोंरात, दुधमुँहा, ललमुँहा, पँचमेल, बारहमजा, रेशमकटरा, बाँसफाटक, दूधभात, पूड़ी-साग, घर-बार, तनमन आदि के समान तद्भव और ठेठ भाषा के समासों की भी कमी नहीं है। इन्हीं चलते

१—समासे खलु भिन्नैव शक्तिः।—शब्दशक्तिप्रकाशिका।

शब्दों का विचार भी आवश्यक है। अब यदि इन समस्त शब्दों के स्थान पर हम विग्रहवाक्यों का प्रयोग करें तो क्या कभी अच्छा लगेगा? कभी नहीं। डाक का घर, फटे बादलवाला (ग्राम) आदि विग्रह वाक्यों से डाकघर और बदरफट का पूरा अर्थ कभी नहीं निकल सकता।

इन्हीं सब कारणों तथा अन्य अनेक कारणों से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कहीं अच्छे शब्दों का बुरा अर्थ होने लगता है और कहीं इसके विपरीत बुरे का अच्छा अर्थ हो जाता है। कभी अपवित्र, अशुभ या अप्रिय भावों को सूचित करने के लिये सुंदर शब्दों का प्रयोग होता है। किसी अवस्था में अमूर्त भावों का मूर्त अर्थ और मूर्त पदार्थों का अमूर्त अर्थ होने लगता है। इसी प्रकार व्यापक अर्थों का संकुचित अर्थ हो जाता है और संकुचित भावों के द्योतक शब्दों का व्यापक अर्थ में प्रयोग होने लगता है। कभी कभी रूपक के कारण शब्दों का कुछ और भी भाव होता है और कभी एक ही शब्द भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अनेक अर्थ देने लगते हैं। इसी प्रकार वस्तुओं के नामकरण के संबंध में भिन्न भिन्न वस्तुओं के नाम रूप-रंग तथा आकार आदि के कारण पड़ जाते हैं और कभी एक शब्द के दो टुकड़े होकर दोनों अलग-अलग अर्थ देने लगते हैं। सारांश यह है कि हिंदी में अर्थ विकार साधारणतः तीनों प्रकार से होता है। विपर्यय, विस्तार और संकोच इन तीन श्रेणियों में प्रायः सब शब्दों के अर्थ विकार आ जाते हैं।[1]

अभिधाशक्तिवाले शब्दों का एक वर्गीकरण हम देख चुके—१. रूढ़, २. यौगिक और ३. योगरूढ़। यह विकास और

१—विशेष देखो—भाषा-विज्ञान।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से किया जाता है। दूसरा वर्गीकरण देशी-विदेशी के भेद और प्रत्यक्ष व्यवहार के आधार पर किया जाता है। इस दूसरे वर्गीकरण के अनुसार मुख्य तीन भेद होते हैं तत्सम, तद्भव और देशी। इनका विवेचन वास्तव में भाषा के विकास का सच्चा रूप सामने ला देता है।

दूसरा वर्गीकरण

इस दूसरे वर्गीकरण को आधार बनाकर बड़ा सुंदर विवेचन तैयार हो सकता है। जैसे कुछ शब्द तत्सम रूप में आज भी विद्यमान हैं पर उनके अर्थ सर्वथा भिन्न हो गये हैं। उदाहरण के लिये, प्राचीन काल में धर्म का अर्थ होता था अपना कर्त्तव्य और आज की हिंदी में उसका अर्थ है मजहब अथवा संप्रदाय। प्राचीन काल के आर्य (श्रेष्ठ के अर्थ में), मृग (पशु मात्र के अर्थ में), व्यथा (काँपने के अर्थ में) आदि शब्द आज भी तत्सम रूप से प्रयुक्त होते हैं पर उनके अर्थ बिलकुल उलट गए हैं। सहयोग और असहयोग शब्द भी पुराने हैं पर अब उनमें राजनीतिक अर्थ भर गया है। इसी प्रकार तद्भव शब्दों में भी अर्थ विकार देख पड़ता है। 'बाई' शब्द संस्कृत के 'वती'[1] और 'माता' से अलग अलग बना है पर अब वह मा, बहिन, स्त्री, भद्र-स्त्री, अध्यापिका, गणिका आदि अनेक अर्थों में आता है।

अंत में देशी और विदेशी शब्दों का तो यहाँ उल्लेख मात्र पर्याप्त है। देशी शब्दों की खोज में बड़े बड़े रहस्यों का पता लग सकता है और विदेशी प्रभाव की चर्चा तो हम

विदेशी

१—दो शब्दों के तद्भव रूप हिंदी में एक से मिलते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसे—कर्म्म = काम और कामः = काम।

अभी अभी कर चुके हैं। तो भी किस प्रकार विदेशी भाव और अर्थ हिंदी पर प्रभाव डाल रहे हैं, इसका एक मनोरंजक उदाहरण हम अवश्य देंगे। संस्कृत में होता है अभाव-निवृत्ति (= अभाव को दूर करना) और अँगरेजी में चलता है उस अभाव की पूर्त्ति करना। संस्कृत के अर्थानुसार देखा जाय तो अभावपूर्त्ति का अर्थ होगा अभाव को और भी बढ़ाना पर हिंदीवालों ने अँगरेजी भाव लेकर संस्कृत के तत्सम शब्द में भर दिया है। इस प्रकार के विदेशी अर्थ वाले संस्कृत शब्द आजकल की छायावादी कविता में बहुत अधिक है। गद्य में भी उनकी कमी नहीं है। समाचारपत्रवाले नित्य ही संस्कृत की खाल ओढ़ाकर अँगरेजी शब्दों की प्राण-प्रतिष्ठा किया करते हैं।

भाषा का मम और सच्चा विकास देखने के लिये इन सभी बातों का विचार करना पड़ता है। और इस समझने की पद्धति का नाम है व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति करने के लिये ध्वनिविचार, रूपविचार और अर्थविचार तीनों का ही ज्ञान होना चाहिए। इस सबका तात्पर्य यह है कि यह पूरा अध्याय व्युत्पत्ति का ही अध्याय है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अन्य जन वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर वाणी के मर्मज्ञ वैयाकरण को वाणी सुवसना नव-वधू की भाँति अपने अंग प्रत्यंग दिखला देती है।

पाँचवा अध्याय

हिंदी का ऐतिहासिक विकास

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। पर पिछली अपभ्रंश में भी हिंदी के बीज बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, इसी लिये इस मध्यवर्ती नागर अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई भी मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम अर्ध-भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

> भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
> लज्जज्जं तु वयंसिअह जह भग्गा घरु एंतु॥ १॥
> पुत्तें जाएँ क्वणु गुणु अवगुणु क्वणु मुएण।
> जा बप्पी की भुँहड़ी चंम्पज्जइ अवरेण॥ २॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं। हेमचंद्र का जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२६ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥
ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्ध देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता प्राचीन है और चंद की उसकी अपेक्षा बहुत अर्वाचीन। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं, पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए ही नहीं हैं। संभव है कि इसमें से कुछ स्वयं उनके बनाए हुए हों, पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उसके पहले के हैं।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाक्पतिराज परमार मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहाँ कैद था। कैद ही में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और उसने कारागृह से निकल भागने का अपना भेद अपनी प्रणयिनी को बतला दिया। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और अधिक कड़ाई होने लगी। निम्नलिखित दोहे मुंज की तत्कालीन रचना हैं—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न बेढइ कोइ॥

(जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो, तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।)

सायर खाई लंक गढ़ गढ़वइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि बिसाउ॥

(सागर खाई, लंका गढ़, गढ़पति दशकंधर राजा भाग्य-क्षय होने पर सब चौपट हो गए। मुंज विषाद मत कर।)

ये दोहे हिंदी के कितने पास पहुँचते हुए हैं, यह इन्हें पढ़ते ही पता लग जाता है। इनकी भाषा साहित्यिक है, अतः रूढ़ि के अनुसार इनमें कुछ ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप भी रखे हुए हैं जो बोलचाल में प्रचलित न थे, जैसे संपज्जइ, सायर, मुणालवइ, विसाउ। इन्हें यदि निकाल दें तो भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था, अतएव हिंदी का आदिकाल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिंदी के आदि-काल के कवि मानने में संकोच होता है। पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का पृथ्वीराज रासो बहुत पीछे का बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। उसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन जान पड़ते हैं।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ है जो बुंदेलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में 'आल्हखंड' की रचना हुई थी। अभी तक इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिली है, पर संयुक्त-प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार

है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलता गया है और भाषा में भी फेरफार होता गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष के राजनीतिक उलटफेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्षवर्धन में उत्साही और दृढ़संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारत-वासियों को अपनी रक्षा की चिंता लगी हुई थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि संमानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त हों तथा सेना के अग्रभाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे, इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई सौ वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि काल संवत् १०५० के लगभग आरंभ होकर १३७५ तक चलता है। इस काल में विशेषकर वीर-काव्य रचे गए थे। ये काव्य दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा, जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्-वान् कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देशव्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी ब्रजभाषा का होता था

जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे पिंगल भाषा कहने लगे थे, वास्तव में हिंदी का संबंध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। बीसलदेव रासो की भाषा साहित्यिक नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसके कवि ने जगह जगह अपनी राजस्थानी बोली में इस सामान्य साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

डिंगल के ग्रंथों में प्राचीनता की झलक उतनी नहीं है जितनी पिंगल ग्रंथों में पाई जाती है। राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा को प्राचीनता का गौरव देने के लिये जान-बूझकर प्राकृत अपभ्रंश के रूपों का अपनी कविता में प्रयोग किया है। इससे वह भाषा वीरकाव्योपयोगी अवश्य हो जाती है, पर साथ ही उसमें दुरूहता भी आ जाती है।

मध्यकाल

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य काल आरंभ होता है जो ५२५ वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३७५ से १७०० तक और दूसरा १७०० से १६०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदलकर ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती है, और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है, तथा अंत में अवधी और ब्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है और काव्य-भाषा का एक सामान्य रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डावाँडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डावाँडोल हो गई। हिंदी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १६०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिंदी

गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ है और खड़ी बोली का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होने लगा है।

मध्य काल के पहले भाग में हिंदी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण किया और ब्रज तथा अवधी ने साहित्यिक बाना पहनकर प्रौढ़ता प्राप्त की। पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यंत कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनका न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़ मरोड़ सहनी, तथा उन्हें घटाने बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखनी पड़ी होगी। मध्य-युग के धार्मिक-प्रचार-संबंधी आंदोलन ने प्रचारकों को जनता के हृदय तक पहुँचने की आवश्यकता का अनुभव कराया। इसके लिये जन साधारण की भाषा का ज्ञान और उपयोग उन्हें अनिवार्य ज्ञात हुआ। इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर निर्गुणपंथी संत कवियों ने जन साधारण की भाषा को अपनाया और उसमें कविता की, परंतु वे उस कविता को माधुर्य आदि गुणों से अलंकृत न कर सके और न किसी एक बोली को अपनाकर उसके शुद्ध रूप का उपयोग कर सके। उनके अपढ़ होने, स्थान-स्थान के साधु-संतों के सत्संग और भिन्न-भिन्न प्रांतों तथा उसके उपखंडों में जिज्ञासा की तृप्ति के लिये पर्यटन एवं प्रवास ने उनकी भाषा में एक विचित्र खिचड़ी पका दी। काशी-निवासी कबीर के प्रभाव से विशेष कर पूरबी भाषा (अवधी) का ही उसमें प्राबल्य रहा, यद्यपि खड़ी बोली और पंजाबी भी अपना प्रभाव डाले बिना न रहीं। इन साधु-संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा को हम सधुक्कड़ी अवधी अथवा साहित्य में प्रयुक्त उसका असंस्कृत

अपरिमार्जित रूप कह सकते हैं। आगे चलकर इसी अवधी को प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियों ने अपनाया और उसको किंचित् परिमार्जित रूप में प्रयुक्त करने का उद्योग किया। इसमें उनको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। अंत में स्वाभाविक कोमलता और सगुणभक्ति की रामोपासक शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि तुलसीदासजी ने उसे प्रौढ़ता प्रदान करके साहित्यिक आसन पर सुशोभित किया। प्रेमाख्यानक कवियों ने नित्य के व्यवहार में आनेवाली भाषा का प्रयोग किया और तुलसीदास ने संस्कृत के योग से उसको परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया।

व्रजभाषा एक प्रकार से चिरप्रतिष्ठित प्राचीन काव्य-भाषा का विकसित रूप है। पृथ्वीराज रासो में ही इसके ढाँचे का बहुत कुछ आभास मिल जाता है—"तिहि रिपुजय पुरहरन को भए प्रथिराज नरिंद।"

सूरदासजी के रचना-काल का आरंभ संवत् १५७५ के लगभग माना जाता है। उस समय तक काव्य-भाषा ने व्रजभाषा का पूरा पूरा रूप पकड़ लिया था, फिर भी उसमें क्या क्रिया, क्या सर्वनाम और क्या अन्य शब्द सबमें प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। पुरानी काव्य-भाषा का प्रभाव व्रजभाषा में अब तक लक्षित होता है। रत्नाकरजी की कविता में भी अभी तक 'मुक्ताहल' और 'नाह' ऐसे न जाने कितने शब्द मिलते हैं। तुलसीदासजी की रचना में जिस प्रकार अवधी ने प्रौढ़ता प्राप्त की उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में व्रजभाषा भी विकसित हुई। घनानंद, बिहारी और पद्माकर की कविता में तो उसका पूर्ण परिपोष हुआ।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार

अवधी भाषा में मिश्रण के कारण साधु-संत हुए उसी प्रकार व्रजभाषा में मिश्रण के कारण राजा लोग हुए। यह ऊपर कहा जा चुका है कि व्रजभाषा पुरानी सार्वदेशिक काव्य-भाषा का विकसित रूप है। उत्तर भारत की संस्कृत का केंद्र सदा से उसका पश्चिमी भाग रहा। बड़ी बड़ी राजधानियाँ तथा समृद्धिशालिनी नगरियाँ, जहाँ राजा लोग मुक्तहस्त होकर दान देने के प्रभाव से दूर दूर देश के कवि-कोविदों को खींच लाते थे, वहीं थीं। इसीसे वहीं की भाषा ने काव्य-भाषा का रूप प्राप्त किया, साथ ही दूर दूर देशों की प्रतिभा ने भी काव्य-भाषा का एकत्व स्थापित करने में योग दिया। इस प्रकार का कल्पित एकत्व प्रायः विशुद्धता का विरोधी होता है। यही कारण है कि व्रजभाषा भी बहुत काल तक मिश्रित रही। रासो की भाषा भी मिश्रित ही है। चंद ने स्वयं कहा है—
"षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।"

इस षट्-भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिये भिखारीदास का निम्नलिखित पद्यांश विचारणीय है—

> व्रज मागधी मिलै अमर नाग यमन भाखानि।
> सहज पारसी हू मिलै षट बिधि कहत बखानि॥

मागधी से पूर्वी अवधी और बिहारी का तात्पर्य है, अमर से संस्कृत का, और यमन से अरबी का, पर नागभाषा कौन सी है यह नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो, पर यह मिश्रण ऐसा नहीं होता था कि भाषा अपनापन छोड़ दे।

> व्रज भाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥

प्रत्येक कवि की रचनाओं में इस प्रकार का मिश्रण मिलता है, यहाँ तक कि तुलसीदास और गंग भी, जिनका काव्य-

साम्राज्य में बहुत ऊँचा स्थान है, उससे न बच सके। भिखारी-दासजी ने इस संबंध में कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार ॥

अब तक तो किसी चुने हुए उपयुक्त विदेशी शब्द को ही कविगण अपनी कविता में प्रयुक्त करते थे, परंतु इसके अनंतर भाषा पर अधिकार न रहने, भावों के अभाव, तथा भाषा की आत्मा और शक्ति की उपेक्षा करने के कारण अरुचिकर रूप से विदेशी शब्दों का उपयोग होने लगा और भाषा का नैसर्गिक रूप भी परिवर्तन के आवर्त्त में फँस गया। फारसी के मुहाविरे भी ब्रजभाषा में अजीब स्वाँग दिखाने लगे। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा में भी एक विशुद्धतावादी आंदोलन का आरंभ हो गया। हिंदी-भाषा के मध्यकालीन विकास के दूसरे अंश की विशेषता ब्रजभाषा की विशुद्धता है। भाषा की इस प्रगति के प्रमुख प्रतिनिधि घनानंद हैं। ब्रजभाषा का यह युग अब तक चला आ रहा है, यद्यपि यह अब क्षीणप्राय दशा में है। वर्तमान युग में इस विशुद्धता के प्रतिनिधि पंडित श्रीधर पाठक, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और पंडित रामचंद्र शुक्ल आदि कहे जा सकते हैं।

किसी समय भी बोलचाल की ब्रजभाषा का क्या रूप था, इसका पता लगाना कठिन है। गद्य के जो थोड़े बहुत नमूने चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं तथा वैद्यक और साहित्य के ग्रंथों की टीका में मिलते हैं वे संस्कृत-गर्भित हैं। उनसे इस कार्य में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

ब्रज और अवधी के ही समान प्राचीन होने पर भी खड़ी-बोली साहित्य के लिये इतना शीघ्र नहीं स्वीकृत हुई, यद्यपि

बहुत प्राचीन काल से ही वह समय समय पर उठ-उठकर अपने अस्तित्व का परिचय देती रही है। मराठा भक्त-प्रवर नामदेव का जन्म संवत् १६९२ में हुआ था। उनकी कविता में पहले पहल शुद्ध खड़ी-बोली के दर्शन होते हैं:—

पाँड़े तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥

इसके अनंतर हमको खड़ी-बोली के अस्तित्व का बराबर पता मिलता है। इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी-बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य-ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी-बोली का प्रचार हुआ। ग्रियर्सन साहब लालचंद्रिका की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं—"इस प्रकार की भाषा का इससे पहले भारत में कहीं पता न था...अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।"

आधुनिक काल

इसी बात को लेकर उक्त महोदय अपनी भाषाओं की जाँच[१] की रिपोर्ट के पहले भाग में इस प्रकार लिखते हैं:—

"अतः यह हिंदी (संस्कृत-बहुला हिंदुस्तानी अथवा कम से कम वह हिंदुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी कभी लोग उच्च-हिंदी कहते हैं, उन हिंदुओं की गद्य-साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के

१–Linguistic Survey of India: G. A. Grierson.

आरंभ से अँगरेजी प्रभाव के कारण होने लगा है। ...लल्लू-लाल ने डा० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेम-सागर लिख-कर ये सब परिवर्त्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का संबंध है, वहाँ तक यह ग्रंथ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य्य शब्द रख दिए गए थे, जिन स्थानों पर उर्दू लिखनेवाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

यह कथन असंगत प्रतीत होता है। यदि लल्लूलालजी नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिंदी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगों पर शासन करें। प्रेमसागर उस समय जिस भाषा में लिखा गया, वह लल्लूलालजी की जन्मभूमि आगरा की भाषा थी, जो अब भी बहुत कुछ उससे मिलती जुलती बोली जाती है। उनकी शैली में ब्रजभाषा के मुहाविरों का जो पुट देख पड़ता है, वह उसकी स्वतंत्रता, प्रचलन और प्रौढ़ता का द्योतक है। यदि केवल अरबी-फारसी शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द रख कर भाषा गढ़ी गई होती तो यह बात असंभव थी। इधर राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू का जो रंग है, वह प्रेम-सागर की भाषा में नहीं पाया जाता। इसका कारण स्पष्ट है। राजा साहब ने उर्दू-भाषा को हिंदी का कलेवर दिया है और लल्लूजीलाल ने पुरानी ही खोल ओढ़ी है। एक लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा में प्रतिबिंबित है तो दूसरे का उसके लोक-व्यवहार-ज्ञान में। दूसरे, लल्लूलालजी के समकालीन और उनके कुछ पहले के सदल मिश्र, मुंशी सदासुख[1] और सैयद इंशाउल्लाखाँ की रचनाएँ भी तो खड़ी-बोली

१—देखिए डा० श्यामसुंदरदास रचित 'हिंदी साहित्य' (सन् १९४६) पृ० २६७

में ही हैं। उसमें ऐसी प्रौढ़ता और ऐसे विन्यस का आभास मिलता है जो नई गढ़ी हुई भाषा में नहीं, किंतु प्रचुरप्रयुक्त तथा शिष्ट-परिगृहीत भाषाओं में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान अमीर खुसरो ने अपनी कविता में इसी भाषा का प्रयोग किया है। पहले गद्य की सृष्टि होती है, तब पद्य की। यदि यह भाषा उस समय न प्रचलित होती तो अमीर खुसरो ऐसा घटमान[1] कवि इसमें कभी कविता न करता। स्वयं उसकी कविता इसकी साक्षी देती है कि वह चलती रोजमर्रा में लिखी गई है, न कि सोच-सोचकर गढ़ी हुई किसी नई बोली में।

कविता में खड़ी-बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आस-पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजशासन का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्होंने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ-प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी। अतएव मध्यकाल में हिंदी-भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी-

---

१—दे० काव्यमीमांसा, पृ० १९।

बोली। जैसे आरंभ काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि-काल में प्राकृत-शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्यकाल में संस्कृत-शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शब्दों के प्राकृत-रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे, जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्त्तमानकाल में साहित्य की भाषा में व्रजभाषा और अवधो का प्रचार घटता गया और खड़ी-बोली का प्रचार बढ़ता गया। इधर इसका प्रचार इतना बढ़ा कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य को रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

आधुनिक हिंदी-गद्य या खड़ी-बोली के आचार्य शुद्धता के पक्षपाती थे। वे खड़ी-बोली के साथ उर्दू या फारसी का मेल देखना नहीं चाहते थे। इंशाअल्ला तक की यही संमति थी। उन्होंने 'हिंदी छुट किसी की पुट' अपनी भाषा में न आने दी; यद्यपि फारसी रचना की छूत से वे अपनी भाषा को न बचा सके। इसो प्रकार आगरा-निवासी लल्लूलालजो की भाषा में व्रज का पुट है और सदल मिश्र की भाषा में पूरबी की छाया वर्तमान है, परंतु सदासुखलाल की भाषा इन दोषों से मुक्त है। उनकी भाषा व्यवस्थित, साधु और स्वच्छ होती थी। आज-कल की खड़ी-बोली से सीधा संबंध इन्हीं की भाषा का है, यद्यपि हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में हम इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की उपेक्षा नहीं कर सकते।

आगे चलकर जब मुसलमान खड़ी-बोली को मुश्किल-जबान

कहकर विरोध करने लगे और अँगरेजों को भी शासन-संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार तथा राजनीतिक चालों की सफलता के उद्देश्य से शुद्ध हिंदी के प्रति उपेक्षा भाव उत्पन्न हो गया तब राजा शिवप्रसाद, समय और स्थिति की प्रगति का अनुभव कर, उसे फारसी मिश्रित बनाने में लग गए और इस प्रकार उन्होंने हिंदी की रक्षा कर ली।

इसी समय भाषा में राष्ट्रीयता की एक लहर आई जिसके प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। अभी कुछ ही दिन पहले मुसलमान भारतवर्ष के शासक थे। इस बात को वे अभी भूले नहीं थे। अतएव उनका इस राष्ट्रीयता के साथ मिलना असंभव सा था। इसलिये राष्ट्रीयता का अर्थ हिंदुत्व की वृद्धि था। लोग सभी बातों के लिये प्राचीन हिंदू संस्कृति की ओर झुकते थे। भाषा की समृद्धि के लिये भी बँगला के अनुकरण पर संस्कृत शब्द लिए जाने लगे, क्योंकि प्राचीन परंपरा का गौरव और संबंध सहज में उच्छिन्न नहीं किया जा सकता। उसको बनाए रखने में भविष्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त, परमार्जित और सुदृढ़ हो सकता है। यही कारण है कि राजा शिवप्रसाद को अपने उद्योग में सफलता न प्राप्त हुई और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर हिंदी ऊँचा सिर किए हुए आगे बढ़ रही है। इस समय साहित्यिक-हिंदी संस्कृत-गर्भित हो रही है।

परंतु अब राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों के आ मिलने से तथा हिंदुओं के उनका मन रखने की उद्विग्नता के कारण एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है। वही राष्ट्रीयता, जिसके कारण पहले शुद्ध हिंदी का आंदोलन चला था, अब मिश्रण की पक्षपातिनी हो रही है और अपनी गौरवान्वित परंपरा को नष्ट कर राजनीतिक स्वर्गलाभ की आशा तथा आकांक्षा करती है। अब प्रयत्न

यह हो रहा है कि हिंदी और उर्दू में लिपिभेद के अतिरिक्त और कोई भेद न रह जाय और ऐसी मिश्रित भाषा का नाम हिंदुस्तानी रखा जाय। हिंदी यदि हिंदुस्तानी बनकर देश में एकच्छत्र राज्य कर सके तो नाम और वेश-भूषा का यह परिवर्तन महँगा न होगा, पर आशंका इस बात की है कि अध्रुव के पीछे पड़ कर हम ध्रुव को भी नष्ट न कर दें।

इस एकता के साथ-साथ साहित्य और बोलचाल तथा गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का उद्योग वर्तमान युग की विशेषता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, व्रजभाषा और खड़ी-बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं, पर साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी-बोली ही है।

छठा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

वैदिक प्राकृत से भिन्न भिन्न प्राकृतों का विकास हुआ और इनके साहित्यिक रूप धारण करने पर अपभ्रंशों का उदय हुआ, तथा जब ये अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब आधुनिक देश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार हिंदी का उदय क्रमशः शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों तथा शौरसेनी और अर्ध-मागधी अपभ्रंशों से हुआ है। अतएव जब हम हिंदी के शब्दों की उत्पत्ति तथा उसके व्याकरण के किसी अंग पर विचार करते हैं, तब हमें यह जान लेना आवश्यक होता है कि प्राकृतों या अपभ्रंशों में उन शब्दों के क्या रूप या व्याकरण के उस अंग की क्या व्यवस्था होती है। हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल में शब्दों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन हुआ है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस बात पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है कि शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से हुई है। यास्क का कहना था कि सब शब्द धातु-मूलक हैं, और धातु वे क्रिया-वाचक शब्द हैं जिनमें प्रत्यय आदि लगाकर धातुज शब्द बनाए जाते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा गया कि सब शब्द धातु-मूलक नहीं हैं, क्योंकि यदि सब शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मान ली जाय, तो 'अश्' धातु से, जिसका अर्थ 'चलना है', अश्व बनकर सब चलनेवाले जीवों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। इसका उत्तर यास्क ने यह दिया है कि जब

धातु-भेद

एक क्रिया के कारण एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है, तब वही क्रिया करनेवाले दूसरे पदार्थों का वही नाम नहीं पड़ता। फिर किसी पदार्थ का कोई मुख्य गुण लेकर ही उस पदार्थ का नाम रखा जाता है, उसके सब गुणों का विचार नहीं किया जाता। इसी मत का अनुसरण पाणिनि ने भी किया है और इस समय सब भाषाओं के संबंध में यही मत माना भी जाता है। संस्कृत में १७०८ धातु हैं जिनके तीन मुख्य विभाग हैं—

(क) प्रथम प्रकार के धातु (१) या तो एक स्वर के बने होते हैं, जैसे 'इ', (२) या एक स्वर और एक व्यंजन से, जैसे 'अद्', (३) अथवा एक व्यंजन और एक स्वर से, जैसे 'दा'। किसी भाषा के इतिहास में इस प्रकार के धातु, जिन्हें हम मूल-धातु कह सकते हैं, सबसे प्रधान होते हैं, पर विकासोन्मुख विचारों और भावों को व्यंजित करने में इनकी शक्ति साधारणतः बहुत अस्पष्ट होती है। इसलिये क्रमशः इनका स्थान दूसरे प्रकार के धातु और दूसरे प्रकार के धातुओं का स्थान तीसरे प्रकार के धातु ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के धातु एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन से बने होते हैं, जैसे 'तुद्'। आर्य-भाषाओं में इस श्रेणी के धातुओं का अंतिम व्यंजन प्रायः बदलकर अनेक अन्य धातुओं की सृष्टि करता है, जैसे—तुप्, तुम्, तुज्, तुद्, तुर्, तुह्, तुस्। इन सब धातुओं के अर्थ में मूल-भाव एक ही है, पर विचारों और भावों के सूक्ष्म भेद प्रदर्शित करने के लिये इन धातुओं के अंतिम व्यंजन का परिवर्तन करके शब्दों की शक्ति की व्यापकता का उपाय किया गया है।

(ग) तीसरी श्रेणी के धातुओं के चार उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार के बनते हैं :—

(१) व्यंजन, व्यंजन और स्वर, जैसे 'प्लु'।

(२) स्वर, व्यंजन, और व्यंजन, जैसे 'अर्द्र'।

(३) व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन, जैसे 'स्पश्'।

(४) व्यंजन, व्यंजन, स्वर, व्यंजन और व्यंजन, जैसे 'स्पन्द्'।

इस श्रेणी के धातुओं में यह विशेषता होती है कि दो व्यंजनों में से एक अंतस्थ, अनुनासिक या ऊष्म होता है और उसमें विपर्यय होकर अनेक धातु बन जाते हैं, जो भावों या विचारों के सूक्ष्म भेद व्यंजित करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार धातुओं से संस्कृत के शब्द-भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। प्रोफेसर मैक्समूलर का अनुमान है कि यदि विचार और परिश्रम किया जाय, तो संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार १७०८ से घटकर प्रायः ५०१ धातुओं पर अवलंबित हो जाय।

इन्हीं धातुओं से संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार बनता है। संस्कृत शब्दों में से अनेक शब्द हमारी हिंदी में मिल गए हैं।

शब्द-भेद

ऐसे शब्दों को जो सीधे संस्कृत से हमारी भाषा में आए हैं, तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आजकल की भाषा में ऐसे शब्दों का समावेश दिनों-दिन बढ़ता जाता है। भाषा की उन्नति के लिये यह एक प्रकार से आवश्यक और अनिवार्य भी है। ये तत्सम शब्द अधिकतर संस्कृत के प्रातिपदिक रूप में लिए जाते हैं, जैसे देव, फल और कुछ संस्कृत की प्रथमा के एकवचन के रूप में हिंदी में संमिलित होकर प्रयुक्त होते हैं और उसके व्याकरण के अनुशासन में आते हैं, जैसे राजा, पिता, दाता, नदी आदि।

इनके अतिरिक्त हिंदी में ऐसे शब्दों की बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे—साँप, काज,

बच्चा आदि। इस प्रकार के शब्दों में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे संस्कृत से प्राकृत में आए हुए तद्भव शब्द हैं अथवा प्राकृतों के ही तत्सम शब्द। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ये शब्द प्राकृत से हिंदी में आए हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें अर्ध-तत्सम कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत शब्द आते हैं जिनका प्राकृत भाषियों द्वारा युक्त-विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) या प्रतिभासमान वर्ण-विकार होते होते भिन्न रूप हो गया है। जैसे, अगिन, बच्छ, अच्छर, किरपा आदि।

इन तीनों प्रकार के शब्दों की भिन्नता समझने के लिये एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है। संस्कृत का 'आज्ञा' शब्द हिंदी में ज्यों का त्यों आया है, अतएव यह तत्सम हुआ। इसका अर्धतत्सम रूप 'आग्याँ' हुआ। प्राकृत में इसका रूप 'आणा' होता है जिससे हिंदी का 'आन' शब्द निकला है। इसी प्रकार 'राजा' शब्द तत्सम है और 'राय' या 'राव' उसका तद्भव रूप है। ये तीनों प्रकार के अर्थात् तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव शब्द हिंदी में मिलते हैं, परंतु सब शब्दों के तीनों रूप नहीं मिलते। क्रियापद और सर्वनाम प्रायः तद्भव हैं, परतु संज्ञा-शब्द तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार के मिलते हैं।

कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता ही नहीं चलता। संभव है कि भाषा-विज्ञान की अधिक चर्चा होने तथा शब्दों की व्युत्पत्ति की अधिक खोज होने पर इनके मूल आधार का भी पता चल जाय। ऐसे शब्दों को देशज कहते हैं। जैसे, तेंदुआ, खिड़की, (खड़क्किका—कादंबरी टीका) घूआ,

ठेस इत्यादि। पर इस समय तक तो इन शब्दों का देशज माना जाना अल्पज्ञता का ही सूचक है।

हिंदी भाषा में एक और प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जो किसी पदार्थ की वास्तविकता या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें अनुकरण शब्द कहते हैं, जैसे खटखटाना, चटचटाना, फड़फड़ाना, धमकाना इत्यादि। संसार की सब भाषाओं में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। इसी अनुकरण सिद्धांत पर मनुष्यों की भाषा का विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त हिंदी में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें कहने को तो तत्सम कहते हैं, पर वे तत्सम नहीं हैं। इनमें से कुछ शब्द तो बहुत दिनों से चले आते हैं, जैसे—श्राप, प्रण, क्षत्राणी, सिंचन, अभिलाषा, सृजन, मनोकामना आदि, और अधिक आजकल अल्प-संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चल रहे हैं, जैसे—राष्ट्रीय, जागृत, पौर्वात्य, उन्नायक आदि आदि। इन्हें चाहें तो तत्समाभास कह सकते हैं।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिन्हें न तत्सम कह सकते हैं, न तद्भव और न देशज। जैसे, संस्कृत मातृष्वसा से प्रसिद्ध स्त्रीत्व व्यंजक 'ई' प्रत्यय लगाकर जो मौसी शब्द बना है वह तो तद्भव है, पर उससे बना पुल्लिंग मौसा शब्द न तत्सम है, न तद्भव और न देशज। ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव या तद्भवाभास कहें तो कह सकते हैं, किंतु अब तक विद्वानों ने इन्हें कोई नाम नहीं दिया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो या तो दो भाषाओं के शब्दों के समास से, जैसे—कौंसिल-निर्वाचन, सबूट-पादप्रहार, अमन-सभा, जगन्नाथ-बख्श, राम-चीज आदि आदि, या विजातीय प्रकृति अथवा प्रत्यय के योग से, जैसे—उजड्डता, रसदार, अकाट्य, गुरुडम, लाटत्व, अजिल्द, सजिल्द, आदि, बनते हैं।

दो भाषाओं से बने होने के कारण यदि इन्हें द्विज कह दिया जाय तो आशा है, किसी को बुरा न लगेगा।

कभी कभी किसी शब्द का प्रकार, सादृश्य या संबंध बोध कराने के लिये आंशिक आवृत्ति कर दी जाती है, जैसे—लोटा-ओटा अर्थात् लोटा और तत्सदृश अन्य वस्तुएँ। इसी प्रकार की प्रकारार्थक द्विरुक्ति आधुनिक आर्यभाषा एवं द्रविड़ भाषाओं में ही देखी जाती है। जैसे—(हिंदी) घोड़ा-ओड़ा ; (बँगला) घोड़ा-टोड़ा, (मैथिली) घोड़ा-तोड़ा, (गुजराती) घोड़ो-बोड़ो, (मराठी) घोड़ा-बोड़ा, सिंहली) अश्वया-बश्वया, (तामिल) कुदिरइ-किदिरइ, (कन्नड़ी) कुदिरे-गिदिरे, (तेलुगु) गुर्रमु-गिर्रमु। इसी प्रकार, (हिंदी) जल-वल या जळ-ओल अर्थात् जळ-जलपान, (बँगला) जोल्-टोल्, (मराठी) जळ-विळ, (तामिल) तण्णीर-किण्णीर, (कनड़ी) नीरु-गीरु आदि। हिंदी में इस प्रकार के प्रतिध्वनि शब्दों की सृष्टि पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव समझना चाहिए।

तत्सम और तद्भव शब्दों के रूप-विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में भी विभेद हो गया है। विशेषता यह देखने में आती है कि तत्सम शब्द कभी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसी का तद्भव रूप विशेष अर्थ देता है, जैसे—गर्भिणी और गाभिन, स्थान और थान। कभी तत्सम शब्द से महत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है और उसी के तद्भव रूप से लघुता का, जैसे—देखना और दर्शन। यह भी देखने में आता है कि कभी कभी एक ही द्व्यर्थक शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं, जैसे—वंश शब्द के तत्सम रूप का अर्थ कुटुंब और तद्भव रूप 'बाँस' का अर्थ तृण विशेष ही लिया जाता है। एक ही शब्द नानार्थक कैसे हो जाता है अथवा एक ही

प्रकार के भाव का द्योतन करने के लिये अनेक पर्यायों की कैसे सृष्टि होती है, या किसी एक पर्याय की अवयवार्थ-बोधकता अन्य पर्याय को, चाहे उसका अवयवार्थ कुछ और ही हो, कैसे प्राप्त हो जाती है; जैसे—भोगी साँप को भी कहते हैं और भोग करनेवाले विलासी को भी। साँप का पर्यायवाचक भुजंग शब्द वेश्या का उपभोग करने वाले विलासी के लिये प्रयुक्त होता है, यद्यपि भुजंग का अवयवार्थ है टेढ़ी चाल चलनेवाला। इन अनेक बातों की स्वतंत्र विवेचना होनी चाहिए।

आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं, पर तत्सम शब्दों से क्रियापद नहीं बनते। उनमें करना या होना जोड़कर उनके क्रियापद रूप बनाए जाते हैं, जैसे देखना और दर्शन करना या दर्शन होना। पुरानी कविता में तत्सम शब्दों से क्रियापद बनाए गए हैं और उनका प्रयोग भी बहुत कुछ हुआ है। आजकल कुछ क्रियापद तत्सम शब्दों से बनकर प्रयोग में आने लगे हैं, जैसे, दर्शाना। ज्यों-ज्यों खड़ी बोली में कविता का प्रचार बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसमें ऐसे क्रियापदों की संख्या भी बढ़ेगी। भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ाने और उसके संक्षेप में भाव प्रकट करने में समर्थ होने के लिये ऐसे नाम-धातुओं की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार हम हिंदी के शब्द-भांडार का विश्लेषण करके इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) संस्कृत या प्राकृत भाषाओं से आगत शब्दों (२) देशज शब्दों तथा (३) अनुकरण शब्दों के अतिरिक्त (४) तत्समाभास, (५) अर्द्धतद्भव या तद्भवाभास, (६) द्विज और (७) प्रतिध्वनि शब्द भी पाए जाते हैं।

हमारी भाषा पर भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा

विदेशियों की भाषाओं का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। द्रविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं और उनमें से होते हुए हमारी भाषा में आ गए हैं। टवर्गी अक्षरों के विषय में बहुतों का यह कहना है कि इनका आगमन संस्कृत और प्राकृत में तथा उनसे हमारी भाषा में द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्रविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषा में नहीं मिल गए हैं, वरन् उनके व्याकरण का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिंदी की कुछ विभक्तियाँ भी द्रविड़ भाषाओं की विभक्तियों के अनुरूप बताई गई हैं; जैसे—कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्तियाँ तो संस्कृत के 'कृते' से निकलकर 'कहुँ' होती हुई 'को' हो गई हैं, पर द्रविड़ भाषाओं में इन्हीं दोनों कारकों की विभक्ति 'कु' है। विभक्तियों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि हिंदी विभक्ति 'को' की द्राविड़ विभक्ति 'कु' से बहुत कुछ समानता है, पर इससे यह सिद्धांत नहीं निकल सकता कि वह द्रविड़ भाषाओं से हिंदी में आई। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यह सिद्धांत नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि द्रविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई, वही रूप अधिक ग्राह्य समझा गया। मिस्टर केलॉग का कहना है कि टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले अधिकांश शब्द द्रविड़ भाषा के हैं और प्राकृतों से हिंदी में आए हैं। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रेमसागर के टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले ८९ शब्दों में से २१ संस्कृत के तत्सम और ६८ प्राकृत के तद्भव हैं, और 'क' से आरंभ होनेवाले

विदेशी प्रभाव

१२८ शब्दों में से २१ तद्भव और १०७ तत्सम हैं। इससे वे यह सिद्धांत निकालते हैं कि भारतवर्ष के आदिम द्रविड़ निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है, वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अब कई आधुनिक आर्य भाषाओं के भी शब्द हिंदी में मिलने लगे हैं; जैसे मराठी के लागू, चालू, बाजू आदि, गुजराती के लोहनी, कुनबी, हड़ताल आदि और बँगला के प्राणपण, चूणांत, भद्र लोग, गल्प, नितांत, सुविधा आदि। इसी प्रकार कुछ अनार्य भाषाओं के शब्द भी मिले हैं, जैसे—(तामिल) पिल्हई से पिल्ला, शुलुट्टु से चुरुट; (तिब्बती) चुंगी, चीनी, चाय; (मलय) साबू इत्यादि।

हिंदी के शब्द भांडार पर मुसलमानों और अँगरेजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों की भाषाएँ फारसी, अरबी और तुर्की मानी जाती हैं। इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मुसलमानों द्वारा अधिक होने के कारण तथा मुसलमानों का उत्तरी भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण ये शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में बहुत अधिकता से मिल गए हैं और इसी कारण साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग चल पड़ा है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश शब्दों का ध्वन्यात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार मुसलमानी शब्दों का भी हिंदी में रूपांतर हुआ है।

यूरोपियन भाषाओं के शब्द भी, जैसा कि हम पहले कह

चुके हैं, हमारी भाषा में मिल गए हैं, और वर्तमान समय में तो बहुत अधिकता से मिलते जाते हैं। इन शब्दों में से थोड़े से शब्द तो पुर्तगाली भाषा के हैं, जैसे Camera से कमरा, Martello से मारतौल, Lelloo से नीलाम; कुछ फ्रेंच भाषा के, जैसे Cartouche से कारतूस, Franchis से फरासीसी, Anlais से अँगरेज; कुछ डच भाषा के, जैसे Troef से तुरुप (ताश का खेल), Boom से बम (गाड़ी का); पर अँगरेजी भाषा के शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बहुत अधिक हो गई है और नित्य बढ़ती जा रही है। इनमें से कुछ शब्द तो तत्सम रूप में आए हैं, पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आए हैं। तत्सम रूप में आए हुए शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं—इंच, फुट, अमोनिया, बेंच, बिल, बोर्ड, वोट बार्डर, बजेट, बटन इत्यादि। तद्भव शब्दों के संबंध में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है, जैसे—(१) Sample से सैंपुल, Recruit से रंगरूट, Dozen से दर्जन, (२) General से जरनल, Desk से डेकस, (३) Report से रपट, Pantaloon से पतलून, Magistrate से मजिस्टर, Lantern से लालटेन, Hundred-weight से हंडरवेट, Town-duty से टून डूटी, Time से टेम, Ticket से टिकट, Quinine से कुनैन, Kettle से केतली। इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्दों के ध्वन्यात्मक विकास में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द के रूप के परिवर्तित होने में नहीं लगता, वरन् दो या अधिक नियम एक साथ लगते हैं। यदि हम प्रत्येक शब्द के संबंध में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें, तो सब काम चल जाता है।

वह नियम यह है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्त्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों को जोड़कर उसके अनुकूल बना लिया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह मुख्य सिद्धांत निकलता है कि हिंदी भाषा में प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के जो शब्द आए हैं, वे या तो तत्सम रूप में आए हैं अथवा तद्भव रूप में। अधिकांश शब्द तद्भव रूप में ही आए हैं, तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। पर साथ ही यह प्रवृत्ति भी देख पड़ती है कि जो लोग प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं, वे उन भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में ही व्यवहृत करने का उद्योग करते हैं। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि ध्वन्यात्मक विकास के सिद्धांतों की भी परवा न करके लोग उन शब्दों को शुद्ध विदेशी या प्राचीन रूप में ही अपनी भाषा में रक्षित रखना चाहते हैं। इससे एक ओर तो नए उच्चारणों के लिये, जो हमारी भाषा में वर्तमान नहीं है, नए चिन्हों के बनाने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है और दूसरी ओर हमारी भाषा की पाचन शक्ति में व्याघात पहुँच रहा है। जिस प्रकार कोई जीवधारी पाचनशक्ति के मंद पड़ जाने अथवा उसके क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण अपनी शारीरिक क्रियाएँ संपन्न करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी भाषा की पाचनशक्ति का नाश हो जाता है, अर्थात् जब उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर तथा उन्हें अपने नैसर्गिक रूप में परिवर्तित करके अपना अंग बनाने की

शक्ति नहीं रह जाती, तब वह क्रमशः क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है अथवा ऐसा विकृत रूप धारण करने लगती है कि उसके पूर्व ऐतिहासिक रूप का पता लगना भी कठिन हो जाता है। संस्कृत, फारसी और अँगरेजी के विद्वानों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पांडित्य की कौंध के आगे वे कहीं अपनी मातृभाषा को विवर्ण और छिन्न-भिन्न न कर दें।

यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जहाँ नई जातियों के संसर्ग तथा नए भावों के उदित होने से हमारी भाषा में नए शब्दों का आगम रोकना असंभव है, वहाँ अपने पूर्व रूप को न पहचानने के कारण अपने प्राचीन शब्द-भांडार से सहायता न लेना भी अस्वाभाविक है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अपना नैसर्गिक रूप न भूला जाय और भाषा को दासत्व की बेड़ी न पहनाई जाय।

हम पहले लिख चुके हैं कि हिंदी में प्राचीन आर्यभाषाओं के शब्द भी तत्सम, अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में आए हैं।

प्राचीन भारतीय भाषाओं का प्रभाव

जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, अनेक अवस्थाओं में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रयोग में आते हैं। पर ऐसे दोनों रूपों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म विभेद हो गया है, जैसे मेघ—मेह, स्थान—थान या थाना, दर्शन—देखना। इनमें से कहीं तो प्रायः ऐसा देखा जाता है कि तद्भव शब्द के अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जाती है और कहीं तत्सम शब्द आदर अथवा महत्ता का सूचक हो जाता है। तत्सम संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द संस्कृत से अधिकतर प्रातिपादिक रूप में और कुछ संस्कृत के प्रथमा एकवचन के रूप में आकर हिंदी व्याकरण के शासनाधीन होते हैं। फल,

घृत, पशु, सुंदर, कुरूप आदि शब्द प्रातिपदिक रूप में ही लिए हुए हैं। दाता, सरिता, राजा, धनवान्, तेजस्वी आदि प्रथम एकवचन के रूप में आते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हिंदी के कारक चिन्ह स्वतंत्र हो गए हैं और संस्कृत के कारक चिह्नों का प्रयोग हिंदी में लुप्त हो गया है।

विशेषणों के तारतम्य सूचक प्रत्यय भी हिंदी में प्रायः लुप्त हो गए हैं, और उनके स्थान पर अप्रत्यय शब्दों से काम लिया जाता है। कहीं कहीं इन प्रत्ययों का जो प्रयोग भी होता है, वह सब तत्सम शब्दों के साथ। जैसे, श्रेष्ठतर, पुण्यतर, मंदतम।

हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा सर्वनामों में बहुत विकार हो गया है। अब वे सर्वथा तद्भव हो गए हैं। तत्सम नामधातुज क्रियाओं के रूप कविता में तो मिलते हैं, पर गद्य में नहीं मिलते। इधर किसी किसी का प्रयोग गद्य में होने लगा है. पर अधिकांश क्रियाएँ तद्भव ही हैं, और जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तत्सम संज्ञावाचक शब्द के साथ करना, होना, लेना आदि तद्भव क्रियाएँ लगा दी जाती हैं।

हिंदी में तद्भव शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ये संस्कृत से प्राकृत या अपभ्रंश द्वारा विकृत होकर हिंदी में आए हैं। इनके विकृत होने में आगम, लोप, विपर्यय तथा विकार के नियम लगते हैं। ये विकार शब्द के आदि, मध्य या अंत में होते हैं। सबसे अधिक परिवर्तन शब्दों के मध्य में होता है, इसके अनंतर आरंभ के परिवर्तनों की संख्या है, और अंत में तो बहुत कम परिवर्त्तन होते हैं। इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है, अतः हम यहाँ केवल यही बतला देना चाहते हैं कि प्रधानतः प्रयत्नलाघव, स्वरसाम्य और गुणसाम्य आदि के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

सातवाँ अध्याय

साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ

हमने पिछले अध्याय में हिंदी के शास्त्रीय विकास के भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न बोलियों के नाम लिए हैं। इनमें मुख्य राजस्थानी, अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली[1] है। बुँदेलखंडी स्थूल दृष्टि से व्रजभाषा के अंतर्गत आती है। अब हम इन पर अलग विचार करेंगे।

हिंदी की उपभाषाएँ या बोलियाँ

(१) राजस्थानी भाषा—यह भाषा राजस्थान में बोली जाती है। इसके पूर्व में व्रजभाषा और बुँदेली, दक्षिण में बुँदेली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में सिंधी और पश्चिमी पंजाबी तथा उत्तर में पश्चिमी पंजाबी और बाँगरू भाषाओं का प्रचार है। इनमें से मराठी, सिंधी और पश्चिमी पंजाबी बहिरंग शाखा की भाषाएँ हैं और शेष सब अंतरंग शाखा की भाषाएँ हैं।

जहाँ इस समय पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का, जो अंतरंग भाषाएँ हैं, प्रचार है। वहाँ पूर्व काल में बहिरंग भाषाओं का प्रचार था। क्रमशः अंतरंग समुदाय की भाषाएँ इन स्थानों में फैल गई और बहिरंग समुदाय की भाषाओं को अपने स्थान से च्युत करके इन्होंने उन स्थानों में अपना अधिकार

---

१. साहित्यिक हिंदी और भाषा-शास्त्रीय हिंदी में जो अंतर है उसका उल्लेख पृष्ठ १००–१०२ पर हो चुका है।

जमा लिया। आधुनिक राजस्थानी में बहिरंग भाषाओं के कुछ अवशिष्ट चिन्ह मिलते हैं। जैसे आ, ए, ऐ और ओ के उच्चारण साधारण न होकर उससे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार छ का उच्चारण स से मिलता जुलता और शुद्ध स का ह के समान होता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषाओं की संज्ञा का विकारी रूप बहिरंग भाषाओं के समान आकारांत होता है। और संबंध कारक का चिन्ह बँगला के समान 'र' होता है।

बहिरंग भाषाओं को उनके स्थान से हटाकर अंतरंग भाषाओं के प्रचलित होने के प्रमाण कई ऐतिहासिक घटनाओं से भी मिलते हैं। महाभारत के समय में पंचाल देश का विस्तार चंबल नदी से हरद्वार तक था, अतएव उसका दक्षिणी भाग राजपूताने का उत्तरी भाग था। पाश्चात्य पंडित तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पांचाल लोग उन आर्यों में से थे जो पहले भारतवर्ष में आए थे, इसलिए उनकी प्राचीन भाषा बहिरंग समुदाय की थी। जब अंतरंग समुदाय की भाषा बोलनेवाले आर्य, जो पीछे भारतवर्ष में आए, अधिक शक्तिसंपन्न होकर चारों ओर फैलने लगे, तब उन्होंने बहिरंग भाषाओं के स्थान में बसे हुए आर्यों को दक्षिण की ओर खदेड़ना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार अंतरंगवासी आर्य बहिरंग-आर्यों को चीरते हुए गुजरात की ओर चले गए और समुद्र के किनारे तक बस गए। महाभारत के समय में द्वारका का उपनिवेश स्थापित हुआ था और उसके पीछे कई बार आर्य लोग मध्य देश से जाकर वहाँ बसे थे। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि ये लोग राजपूताने के मार्ग से गए होंगे, क्योंकि सीधे मार्ग से जाने में मरु देश पड़ता था जहाँ का मार्ग बहुत कठिन था। पीछे की शताब्दियों में आर्य लोग मध्य-देश से आकर राजपूताने में बसे

थे। बारहवीं शताब्दी में राठौरों का कन्नौज छोड़कर मारवाड़ में बसना इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जयपुर के कछवाहे अवध से और सोलंकी पूर्वी पंजाब से राजपूताने में गए थे। यादव लोग मथुरा से जाकर गुजरात में बसे थे। इन बातों से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि मध्य देश से जाकर आर्य लोग गंगा के दोआबे से लेकर गुजरात में समुद्र के किनारे तक बस गए थे और वहाँ के बसे हुए पूर्ववर्ती आर्यों को उन्होंने खदेड़कर हटा दिया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा बोलनेवाले मध्य देश के परवर्ती आर्य थे, और ऐसी दशा में उनकी भाषा में बहिरंग भाषाओं का कुछ कुछ प्रभाव बाकी रह जाना स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इनके अनेक भेद-उपभेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। जो लोग व्रजभाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी, और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। जयपुरी में भी साहित्य है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणी इसी भाषा में है। मेवाती और मालवी में किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। इन भिन्न भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से, यह प्रकट होता है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती व्रजभाषा से और मालवी बुँदेलखड़ी से बहुत मिलती जुलती है। संज्ञा शब्दों के एकवचन रूप प्रायः समान ही हैं, पर बहुवचनों में अंतर पड़ जाता है। जैसे, एकवचन घर, घोड़ा घड़ी, पर बहुवचन में इनके रूप क्रमशः घरयाँ, घोडाँ, घड्याँ हो जाते हैं। जयपुरी और मारवाड़ी की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं।

कारक	जयपुरी	मारवाड़ी
संबंध	को, का, की	रो, रा, री
संप्रदान	नै, कै	नै
अपादान	सूँ, सैं	सूँ, ऊँ

ब्रजभाषा में अपादान की विभक्ति सौं, तें और बुँदेलखंडी की सों, सें होती है जो जयपुरी और मारवाड़ी दोनों से मिलती है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में तो संबंध कारक की विभक्ति परस्पर मिलती है, पर मारवाड़ी की भिन्न है।

व्यक्तिवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में एकवचन का मूल रूप मो, मुज, मे या तो, तुज, ते है, पर राजस्थानी में मुं, त, तू है, जो गुजराती से मिलता है। बहुवचन में हम, तुम की जगह म्हाँ, थाँ हो गया है। राजस्थानी में एकवचन के पहले व्यंजन को हकारमय करने की भी प्रवृत्ति है, जैसे म्हा। सारांश यह कि व्यक्तिवाचक सर्वनामों में कहीं गुजराती से और कहीं ब्रजभाषा या बुँदेलखंडी से साम्य है और कहीं उसके सर्वथा स्वतंत्र रूप हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है।

राजस्थानी भाषाओं की क्रियाओं में एक बड़ी विशेषता है। उनमें कर्मणि-प्रयोग बराबर मिलता है जो पश्चिमी हिंदी में बहुत ही कम होता है। इन भाषाओं की क्रियाओं में धातु-रूप वे ही हैं जो दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलते हैं, केवल

उनके उच्चारण में कहीं कहीं भेद है। राजस्थानी क्रियाओं में विशेषता इतनी ही है कि वर्तमानकाल में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय आ होता है, पर प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय विशेषण के समान आ होता है। जैसे—

वचन	जयपुरी	मारवाड़ी
<u>वर्तमानकाल</u>		
एकवचन		
उ० पु०	छूँ	हूँ
म० पु०	छइ	हइ
अ० पु०	छइ	हइ
बहुवचन		
उ० पु०	छाँ	हाँ
म० पु०	छो	हो
अ० पु०	छइ	हइ
<u>भूत काल</u>		
एकवचन पुं०	छो	हो
बहुवचन पुं०	छा	हा

राजस्थानी में क्रियाओं के रूप प्रायः पश्चिमी हिंदी के समान होते हैं। भविष्यत्-काल में राजस्थानी के रूप दो प्रकार के होते हैं—(१) एक तो प्राकृत के अनुरूप, जैसे, प्रा० चलिस्सामि, चलिहामि, चलस्यूँ, चलहूयूँ, और दूसरा 'गा' या 'ला' प्रत्यय लगाकर, जैसे चलूँलो, चलाँला, चलूँला, चलूँगो, चलाँगा।

राजस्थानी भाषा वाक्य-विन्यास के संबंध में गुजराती का अनुकरण करती है। पश्चिमी हिंदी में बोलने का अर्थ देनेवाली क्रियाओं के संबंध में जिससे बोला जाय, उसका रूप अपादान कारक में होता है, जैसे—"राम गोविंद से कहता है।" पर गुजराती में इसका रूप संप्रदान कारक का सा होता है, जैसे—"राम गोविंद ने कहे छे।" पश्चिमी हिंदी में जब कोई सकर्मक क्रिया सामान्य भूतकाल में प्रयुक्त होती है, और कर्म सप्रत्यय रखा जाता है, तब उसका रूप पुल्लिंग का सा होता है, पर गुजराती में कर्म के अनुसार लिंग होता है, जैसे—(प० हिं०) "उसने स्त्री को मारा", (गु०) तेणे स्त्री ने मारी। राजस्थानी में दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि राजस्थानी भाषा पर गुजराती का बहुत प्रभाव पड़ा है। संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिंदी से नहीं। राजस्थानी की विभक्तियाँ अलग ही हैं। जहाँ कहीं समानता है, वहाँ गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिंदी से कम।

(२) अवधी—इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों में है। इसकी प्रचार-सीमा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में पश्चिमी हिंदी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी भाषा बोली जाती है।

अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छतीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है। बघेलखंड में बोली जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का

प्रभाव पड़ा है और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिंदी साहित्य में अवधी भाषा ने एक प्रधान स्थान ग्रहण किया है। इसके मुख्य दो कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५९७ में और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस का आरंभ संवत् १६३१ में किया था। दोनों में ३०-३५ वर्ष का अंतर है। पर पद्मावत की भाषा अपने शुद्ध रूप में, जैसी वह बोली जाती थी, वैसी ही है, और गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप देने का सफलता-पूर्ण उद्योग किया है। अवधी के भी दो रूप मिलते हैं—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है, अतएव ब्रजभाषा की सीमा के निकट पहुँच जाने के कारण उसका इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है और यह उससे अधिक मिलती है। पूर्वी अवधी गोंडे और अयोध्या के पास बोली जाती है। यहाँ की भाषा शुद्ध अवधी है। इस विभेद को स्पष्ट करने के लिये हम दोनों के तीन सर्वनामों के रूप यहाँ देते हैं।

वर्तमान हिंदी	पूर्वी अवधी		पश्चिमी अवधी	
	अविकारी	विकारी	अविकारी	विकारी
कौन	के	के	को	का
जो	जे	जे	जो	जा
वह	से, ते	ते	सो	ता

क्रियापदों में भी इसी प्रकार का भेद मिलता है। पश्चिमी अवधी में ब्रजभाषा के समान साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है, जैसे आवन, जान, करन। पर पूर्वी अवधी में उसके अंत में ब प्रत्यय आता है, जैसे—आउब, जाब, करब। इन साधारण क्रियापदों में कारक चिन्ह या दूसरी क्रिया लगने पर पश्चिमी अवधी का नांत रूप बना रहता है, जैसे आवन काँ, करन माँ, आवन लाग, पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का वर्त्तमान तिङन्त (साध्यावस्थापन्न) रूप हो जाता है, जैसे—आवै काँ, जाय माँ, आवै लाग, सुनै चाहौ। करण के चिन्ह के पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में भूत कृदंत का रूप हो जाता है, जैसे—आए से, चले से, आए सन्, दिए सन्। पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप ब्रज-भाषा के समान 'है' होता है, जैसे—करिहै, सुनिहै, पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है, जैसे—होइहि, आइहि। क्रमशः इस 'हि' में के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया जो पूर्व 'इ' से मिलकर 'ई' हो गया, जैसे आई, जाई, करी, खाई। अवधी साहित्य में दोनों रूप एक ही ग्रंथ में एक साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में भोजपुरी से अवधी बहुत मिलती है। इसके विकारी रूप का प्रत्यय 'ए' होता है। अवधी की विभक्ति 'याँ' भी वही है जो भोजपुरी की है, केवल कर्म कारक और संप्रदान कारक का चिन्ह अवधी में काँ और बिहारी में 'के' तथा अधिकरण कारक 'को' चिन्ह अवधी में 'माँ' और बिहारी में 'में' है। ये 'काँ' और 'माँ' विभक्तियाँ अवधी की विशेषता की सूचक हैं। सर्वनामों के कारक रूपों में भी बिहारी से अवधी मिलती है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के संबंध कारक एकवचन का रूप पश्चिमी हिंदी में मेरो या मेरा

है, पर बिहारी में यह मोर हो जाता है। अवधी में भी बिहारी के समान 'मोर' ही रूप होता है। क्रियापदों में अवधी शौरसेनी की ओर अधिक झुकती है। उदाहरण के लिये अवधी का 'मारा' शब्द ले लीजिए। संस्कृत में यह 'मारितः' था, शौरसेनी में 'मारिदो' हुआ जिससे व्रजभाषा में 'मार्‌यो' बना। इस उदाहरण में पहले 'त' का 'द' हुआ और तब उस 'द' का लोप हो गया। पूर्वी समुदाय की भाषाओं में इस 'द' के स्थान में 'ल' हो जाता है, जैसे—मारल। इससे प्रतीत होता है कि अवधी ने शौरसेनी से सहायता लेकर अपना रूप स्थिर किया है।

यहाँ हम संक्षेप में अवधी के व्याकरण की कुछ बातें देकर इस भाषा का विवरण समाप्त करते हैं।

संज्ञा—शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं, जैसे—घोड़, घोड़वा और घोड़ौना, नारी, नरिया और नरोवा। इसके कारकों के रूप इस प्रकार होते हैं:—

कारक	अकारांत पुं०	आकारांत पुं०	ईकारांत स्त्री०
एकवचन			
कर्त्ता	घर	घोड़वा	नारी
विकारी	घरा, घरे	घोड़वा	नारी
बहुवचन			
कर्त्ता	घर	घोड़वे, घोड़वने	नारी
विकारी	घरन	घोड़वन	नारिन

संज्ञाओं के साथ जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

कर्त्ता—ऐ (आकारांत शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ)।

कर्म—के, काँ, कहँ।

करण—से, सन्, सौं।

संप्रदान—के, का, कह।

अपादान—से, ते, सेंती, हुँत।

संबंध—कर (क), केर, कै (स्त्री०)।

अधिकरण—में, माँ, महँ, पर।

विशेषण—विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे—आपन-आपनि, ऐस-ऐसि, ओकर-ओकरि। प्रायः बोल चाल में इसका ध्यान नहीं रखा जाता, पर साहित्य में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है।

सर्वनाम—भिन्न-भिन्न सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं:—

सर्वनाम	एकवचन			बहुवचन		
	कर्त्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं	तो	तोर	तुम, तूँ	तुम, तुम्हरे	तुम्हार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप (स्व)	आप	आप	आपकर	आप	आप	आपकर

आप (पर)	आप	आपु	आपन	आप	आप	आपन
यह	ई	ए, एह, एहि	एकर, एहिकर	इन, ए	इन	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह ओहि	ओकर, ओहिकर	उन, ओन	ओन, उन	ओनकर, ओनकेर
जो	जो, जे जौन	जे, जेहि	जेकर, जेहिकेर	जे	जिन	जिनकर, जिनकेर
सो	सो, से, तौन	ते, तेहि	तेकर, तेहिकेर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कौन	को. के, कौन	के, केहि	केकर, केकरे	को, के	किन	किनकर, किनकेर

क्रियाएँ—इनके रूप भिन्न कालों, वचनों, पुरुषों तथा लिंगों में इस प्रकार हाते हैं:—

१. अकर्मक क्रियाएँ

वर्त्तमान काल "मैं हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हौं, बाट्यों, अहौं	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन, अहिन

म० पु०	हए, बाटे, बाटिस अहिस, अहै, अइसि	हइस, बाटिस अहिस	हौ, बाट्यौ, अहौ अहैव, अह्यौ, अह, अहै	हइउ, बाटिउ अहिव
अ० पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटैं, अहैं, हैं बाटैं	बाटी, अहैं, बाटिन

भूतकाल "मैं था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	रह्यों	रहिउँ	रहे	रहे, रहिन, (रहेन)
म० पु०	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो	रहिउ
अ० पु०	रही	रही	रहेन, रहिन, रहें	रहा, रहिन

२. सकर्मक मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा — देखब

वर्तमान कृदंत (कर्तरि) — देखत, देखित

भूत कृदंत (कर्मणि) — देखा
भविष्य कृदंत (कर्मणि) — देखब
संभाव्यार्थ कृदंत — देखत, देखित
वर्तमान संभाव्यार्थ — (यदि) मैं देखौं

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखौं	देखी
म० पु०	देखु, देखिस	देखौ
अ० पु०	देखैं	देखैं

अज्ञात के एकवचन का रूप देखु, देखसि और बहुवचन का देखउ, देखौं, देखैं (आप) होता है।

भविष्यत्-काल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखबूँ, देखबौं, देखिहौं	देखब, देखिहैं
म० पु०	देखबे, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अ० पु०	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों	देखिउँ	देखा, देखिन	देखा, देखिन
म० पु०	देखे, देखिस देखेसि	देखिस, देखे देखिसि, देखी	देखेन देख्यो	देखेन देखेउ, देखी
अ० पु०	देखेस, देखिस देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखन, देखिन	देखी, देखिनि

भूत संकेतार्थ

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उ० पु०	देखत्यों	देखतिउँ	देखित	देखित
म० पु०	देखते, देखतिस	देखते, देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
अ० पु०	देखत	देखति	देखतेन, देखतिन	देखतिन

वर्तमान सामान्यः—देखत अहेउँ।
भूत अपूर्णः—देखत रह्यों।

वर्तमान पूर्ण

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों हो	देखिउँ हौं	देखा है, देखेन है, देखिन है	देखा है, देखे है, देखेन हैं
	देखेस है,	देखिस है	देख्यो है	देखिउ हैं
म० पु०	देखिस है, देखे है	देखिसि है, देखे हैं		
अ० पु०	देखेस है, देखिस है	देखि है, देखिसि है	देखेन हैं, देखिन हैं	देखिन है, देखा है

अकर्मक क्रियाओं में भूतकाल 'रह्यों' के समान होता है।

विकारी क्रियाओं में 'जाब' का भूत कृदंत ग, गा, गय (स्त्री० गइ), गवा (स्त्री० गई) होता है। इसी प्रकार 'होब' का भ, भा, भय (स्त्री० भइ), भवा (स्त्री० भई) और करब, देव, लेव आदि का कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह आदि होता है। भूतकाल में इनका रूप किहिस, दिहिस, लिहिस होता है। जिन क्रियाओं के धातु-रूप का अंतिम अक्षर स्वर होता है, उनमें 'व' प्रत्यय लगता है, 'य' नहीं लगता, जैसे, बनावा। 'जाब' का 'गय' है और 'आउब' का 'आय' होता है। जिन क्रियाओं के अंत में 'आ' होता है उनका भूतकाल 'न' प्रत्यय लगाकर बनता है, जैसे डेरान, रिसियान।

(३) ब्रजभाषा—यह अंतरंग समुदाय की सबसे मुख्य भाषा

है। यह शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तरा-धिकारिणी है। इसका मुख्य स्थान ब्रजमंडल है, पर इसका प्रचार दक्षिण की ओर आगरा, भरतपुर, धौलपुर और करौली में तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में है। उत्तर की ओर यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर पूर्व की ओर इसका प्रचार बुलंदशहर, अली-गढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊ, बरेली होते हुए नैनीताल के तराई परगनों तक चला गया है। इसका केंद्रस्थान मथुरा है, और वहीं की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इस केंद्रस्थान से जिधर जिधर यह फैली है, उधर उधर की भाषाओं से संसर्ग होने के कारण इसके रूप में कुछ न कुछ विकार हो गया है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारांत पुल्लिग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत तथा कहीं कहीं वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत होते हैं, जैसे, घोड़ो, चल्यो, कियो आदि। संस्कृत के 'घोटक' शब्द का प्राकृत रूप 'घोडओ' होता है, जिससे ब्रजभाषा का 'घोड़ो' रूप बना है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्त्तमान कृदंतों के अंतिम 'त' का प्राकृत में 'अ+उ' हो जाता है, जैसे चलितः से चलिअउः, और ब्रजभाषा में यह चल्यो हो गया है। यद्यपि यह ब्रजभाषा का एक प्रधान लक्षण है, पर इसके भी अपवाद हैं। जिस प्रकार संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग होता है, उसी प्रकार ब्रजभाषा में 'रा' आदि होता है, जैसे—हियरा, जियरा, बदरा, चवैया, कन्हैया। खड़ी बोली में यह ड़ा और अवधी में वा, ना आदि होता है, जैसे, मुखड़ा, बछड़ा, करेजवा, बिधना इत्यादि। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न इनके विकारी रूपों में आ का ए होता है। ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक चिन्ह

अवधी और खड़ी बोली से भिन्न हैं। यह भिन्नता नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जायगी।

कारक	अधिकरण	अवधी	खड़ी बोली
कर्ता	(विकारी) ने		(विकारी) ने
कर्म	को, कौ	के, का, कहँ,	को
करण	सों, तें	से, सन, सौं	से
संप्रदान	को, कौ	के, का, कहँ,	को
अपादान	तें, सों	से	से
संबंध	को	कर, कै, केर	का, के, की
अधिकरण	में, मों, पै, पर	में, माँ, पर	में, पर

इससे यह स्पष्ट है कि अवधी में भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग सर्वथा नहीं होता, पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में यह अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म, संप्रदान तथा अधिकरण के रूप खड़ी बोली के रूपों से मिलते हैं, पर अवधी से नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह, वह, सो, को (कौन) और जो सर्वनामों के रूप कारक चिह्नों के लगने के पूर्व ब्रजभाषा में या, वा, ता, का और जा हो जाते हैं, जैसे—याने, वाको, तासों, काकों, जाकों। पर अवधी में इनके रूप यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि होकर तब उनमें कारक चिह्न लगते हैं। नीचे ब्रजभाषा के व्याकरण की मुख्य मुख्य बातें दे दी जाती हैं जिनसे इस भाषा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

संज्ञा

कारक	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
	आकारांत	अकारांत	ईकारांत
एकवचन	घोड़ा	घर	घोड़ी
कर्त्ता	घोड़ो, घोड़े ने	घर	घोड़ी, घोड़ी ने
विकारी	घोड़े	घर	घोड़ी
बहुवचन	घोड़े	घर	घोड़ियाँ
कर्त्ता	घोड़े, घोड़न ने	घर	घोड़ियाँ, घोड़ियन ने, घोड़ियान ने
विकारी	घोड़न, घोड़ान	घरन	घोड़ियन, घोड़ियान

विभक्ति

कर्त्ता—ने
कर्म, संप्रदान—को
करण, अपादान—सों, तें
अधिकरण—में, मों, पै
संबंध—को

सर्वनाम-एकवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अ०	अधि०
मैं	मैं, हौं	मैंने	मोहिं (मोय) मोकों	मेरो	मोसौं, मोते	मोमैं, मोपै

तू	तू, तैं	तूने, तैने	तोहि (तोय) तोकौं	तेरो, तिहारो, तुम्हारो	तोसों, तोतें, तोहितें	तोहिमै, तोमैं तोपै, तोहिपै
वह	वह, वो	वाने, ताने	वाहि (वाय) ताहि (ताय) ताकौं	वाको, ताको, तासु	वासों, तासों, वातें, तातें	वामैं, तामैं, वापै, तापै
यह	यह	याने	याहि (याय) याकौं	याको	यासों, यातें	यामैं, यापै
जो	जो, जौन*	जाने	जाहि (जाय) जाकौं	जाको, जासु	जासों, जातें	जामैं, जापै
सो	सो, तौन*	ताने	ताहि (ताय) ताकौं	ताको, तासु	तासों, तातें	तामैं, तापै

* ब्रज में केवल 'सो' के पहले यह रूप आता है, जैसे, जौन सो लेनो होय ले।

कौन	को	काने	काहि (काय) काकौं	काको	कासों, कातें	कामैं, कापै
क्या	कहा, का	×	×	×	×	×

सर्वनाम—बहुवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अ०	अधि०
मैं	हम	हमने	हमहिं, हमैं, हमकौं	हमारो, म्हारो,	हमसौं, हमतैं	हममैं, हमपै
तू	तुम	तुमने	तुमहिं, तुम्हें, तुमकौं	तुम्हारो, तिहारो	तुमसौं, तुमतैं	तुममैं, तुमपै
वह	वे, वै, ते	उनने, विनने, तिनने,	उनहि, उन्हें, तिनहि, तिन्हैं	उनकौ, तिनकौ, विनकौ,	उनसौं, उनतैं, विनसौं, विनतैं, तिनसौं, तिनतैं	उनमैं, उनपै तिनमैं, तिनपै विनमैं. विनपै

यह	ये	इनने	इनहि, इन्हैं, इनकौं	इनकौ	इनसौं, इनतैं	इनमैं, इनपै
जो	जो, जे	जिनने	जिनहि, जिन्हैं, जिनकौं	जिनकौ	जिनसौं, जिनतैं	जिनमैं, जिनपै
सो	ते	तिनने	तिनहि, तिन्हैं, तिनकौं	तिनकौ	तिनसौं, तिनतैं	तिनमैं, तिनपै
कौन	को, के	किनने	किनहि, किन्हैं, किनकौं	किनकौ	किनसौं, किनतैं	किनमैं, किनपै

१. क्रियाएँ

वर्त्तमानकाल—करना (सकर्मक) 'मैं करता हूँ।'

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उ०पु०	करत हौ, करूँ हूँ	करति हौं, करूँ हूँ	करत हैं करैं हैं	करति हैं, करैं हैं

म०पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हौ, करौ हौ	करति हौ, करौ हौ
अ०पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं

भूतकाल[1] "मैं करता था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यो	कियौ, कीन्हौं, कर्‌यौ	कियौ, किन्हौं कर्‌यौ
म० पु०	"	"	"	"
अ० पु०	"	"	"	"

२. मुख्य सकर्मक—क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा—करनो, करिबो, कीबो।

वर्तमान कृदंत कर्तरि—करतो, करती।

१—कर्त्ता के लिंग या वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भूत कृदंत कर्तरि और कर्मणि—कियो, कीन्हों, कर्यो, कियो, गया।

वर्तमान संभाव्यार्थ "मैं देखूँ"

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	मैं) देखूँ	(हम) देखैं
म० पु०	(तू) देखै	(तुम) देखो
अ० पु०	(वह) देखै	बे) देखैं

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप "देख" और बहुवचन का रूप "देखो" होता है।

भविष्य "देखना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	देखूँगो, देखिहौं	देखूँगी, देखिहै	देखैगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं
म० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैंगी, देखिहैं	देखौगे, देखिहौ	देखौगी, देखिहौ
अ० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं

भूतकाळ संकेतार्थ "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	करतो	करती	करते	करतीं

वर्तमान पूर्ण[1] "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है

भूतकाल "जाना" (अकर्मक) गया

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	गयो	गई	गए	गईं

१—कर्ता के लिंग, बचन के अनुसार रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

वर्तमान पूर्ण "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	गयो हौं	गई हौं	गए हैं	गई हैं
म० पु०	गयो है	गई है	गए हौ	गई हौ
अ० पु०	गयो है	गई है	गए हैं	गई हैं

(४) बुँदेली भाषा—ब्रज से मिलती जुलती या उसी की एक शाखा बुँदेली या बुँदेलखंडी भी है, जिसकी छाया कवियों की भाषा में बराबर मिलती है। यह भाषा बुँदेलखंड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बोली जाती है। इसकी विस्तार सीमा के पूर्व ओर की पूर्वी हिंदी की बघेली बोली, उत्तर-पश्चिम की ओर ब्रजभाषा, दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थानी और दक्षिण की ओर मराठी भाषा का साम्राज्य है। उत्तर, पूर्व और पश्चिम की ओर तो यह क्रमशः उन दिशाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में लीन हो जाती है और वहाँ इसका मिश्र रूप देख पड़ता है, पर दक्षिण की ओर यह मराठी से बहुत कम मिलती है। यद्यपि इसकी कई बोलियाँ बताई जाती हैं, पर वास्तव में सर्वत्र इसका एक सा ही रूप है। इधर-उधर जो अंतर देख पड़ता है वह नाममात्र का है।

साहित्य में बुँदेली का सबसे अच्छा नमूना आल्हखंड में मिलता है। पर इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति न

मिलने तथा इसका अस्तित्व आल्हा गानेवालों की स्मरणशक्ति पर ही निर्भर रहने के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों में इसने भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इसमें बहुत कुछ क्षेपक अंश भी मिल गया है, इससे इसका वास्तविक प्राचीन रूप अब प्राप्त नहीं है। कवि केशवदास बुँदेलखंड के रहनेवाले थे, अतएव उनकी भाषा में बुँदेली का बहुत कुछ अंश वर्त्तमान है। नीचे इस भाषा की व्याकरण संबंधी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करके इसके रूप का परिचय दिया जाता है।

पूर्वी भाषाओं में जहाँ लघु उच्चारणवाला 'ए' और 'ओ' होता है, वहाँ बुँदेलखंडी में 'इ' और 'उ' होता है; जैसे—घोड़िया, धुड़िया। कहीं-कहीं ऐसे रूप भी मिलते हैं, जैसे—बिलैवा, चिरैवा आदि। हिंदी की विभाषाओं में संज्ञाओं के पाँच रूप होते हैं—अकारांत, आकारांत, वाकारांत और "औवा" तथा "औना" से अंत होनेवाले, जैसे—घोड़, घोड़ा, घोड़वा, घाड़ौवा, घोड़ौना। पर सब भाषाओं में ये सब रूप नहीं मिलते। हिंदी के आकारांत पुल्लिंग शब्द बुँदेली में ब्रजभाषा के समान ओकारांत हो जाते हैं, पर संबंधसूचक शब्दों में यह विकार नहीं होता, जैसे—दादा, काका। हिंदी में जो स्त्रीलिंग शब्द 'इन' प्रत्यय लगाने से बनते हैं, वे बुँदेली में 'नी' प्रत्यय लेते हैं, जैसे—तेली-तेलिन; बुँ० तेलनी। बुँदेली के कारक हिंदी के ही समान होते हैं। ओकारांत तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप एकवचन में 'ए' और बहुवचन में 'अन' होता है, जैसे—एकवचन, घोड़ो; विकारी—घोड़े; बहुवचन, घोड़े; विकारी—घोड़न। दूसरे प्रकार की पुल्लिंग संज्ञाएँ एकवचन में नहीं बदलतीं, परंतु कर्ता के तथा विकारी रूप के बहुवचन में इनके अंत में 'अन' आता है। कभी-कभी कुछ आकारांत शब्दों का बहुवचन 'आँ' से भी बनता है। 'इया' से अंत होनेवाले

स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन 'इयाँ' और विकारी बहुवचन 'इयन' लगाने से बनता है। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्ता बहुवचन 'एँ' प्रत्यय लगाने से बनता है। ईकारांत शब्दों के बहुवचन में 'ई' और विकारी बहुवचन में 'अन' या 'इन' प्रत्यय लगता है। बुँदेलखंडी में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्ता—विकारी	ने, नें
कर्म, संप्रदान	कों, खों
करण, अपादान	से, सें, सों
संबंध	को, के, की
अधिकरण	मैं, में

बुँदेली में सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं:—

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
कर्ता	मैं में, मैं	तू तूँ तैं	हम	तुम
विकारी	मैंने	तैंने	हम	तुम
संबंध	मोको, मेरो मोरो, मोने	तोको, तेरो तोरो, तोने	हमको, हमारो हमाओ	तुमको, तुमारो तुमाओ

अन्य पुरुष सर्वनाम का रूप 'बो' या 'ऊँ' होता है, इनका बहुवचन 'वे' और विकारी बहुवचन 'बिन' या 'उन' होता है।

क्रियाओं के संबंध में नीचे कुछ रूप दिए जाते हैं।

अकर्मक वर्तमान

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हों, आँवँ, आंव	हैं, आयँ
म० पु०	हे, आँयँ	हो, आव
अ० पु०	हे आँयँ	हैं, आयँ

अकर्मक भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
म० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
अ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत्काल में दोनों रूप होते हैं—हुहौं, हौंगो, मारिहौं, मारूँगो, मारिहैं, मारैंगे।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि बुँदेलखंडी व्रजभाषा की ओर बहुत झुकती है और इसीलिये वह पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत मानी गई हैं।

(५) खड़ी बोली:—इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान-प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल, चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आंगतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध'-'अशुद्ध' बोलनेवालों से 'सही'-'गलत' बोलवाने के लिये अकबर को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तो ह्यशुद्धौ गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध, अशुद्ध न निकलकर सही, गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े-लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख-उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने 'ओज़्बेक' का 'उजबक',

'क़ुतका' का 'कोतका' कर लेने देते और स्वयं करते थे, एवं ये लोग 'बरेहमन्' सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी–हिंदी, बुँदेलखंडी–हिंदी, पंडिताऊ–हिंदी, बाबू–इंगलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिंदी कहलाती थी, पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस प्रकार 'संस्कृतवाक्' के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी-अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही के अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदुस्तानी'[१] बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्तमान हैं। (१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदुस्तानी—जिसमें साधारणतः हिंदी-उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं।

१ अँगरेजी भाषा-विद् 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ 'उर्दू' भाषा ही मानते हैं। देखिए अँगरेजी भाषा के कोश।

इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

प्रसंगवश हम हिंदी शब्द के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य-भाषा' शब्द प्रयुक्त करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिंधु से निकला हुआ बड़ा पुराना शब्द। ईसा मसीह से बहुत पहले फारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फारसी धर्म पुस्तक में जो "अकनूँ बिरहमने व्यास नाम अज़हिंद आमद बस दाना के आक़िल चुनानस्त" और "चूँ व्यास हिंदी बलख़ आमद" लिखा है, वही हिंदी शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट हैं। एक मुसलमान लेखक ने नूरनामा नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिंदी' बतलाया है जिसको आजकल 'उर्दू' कहते हैं। देखिए—

जुबाने अरब में य' था सब कलाम।
किया नज़्म हिंदी में मैंने तमाम॥
अगर्चे था अफ़स: वो अरबी ज़ुबाँ।
व लेकिन समझ उसको थी बस गिराँ॥
समझ उसकी हर इक को दुश्वार थी।
कि हिंदी ज़ुबाँ वाँ तो दरकार थी॥
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर।
लिखा नूरनामे को हिंदी के तौर॥

अरबी-फारसी मिश्रित खड़ी बोली के लिये उर्दू शब्द का प्रयोग बहुत ही आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिंदी न कहकर उर्दू-हिंदी कह देते थे।

इन तीनों रूपों पर अलग-अलग विचार करने के पहले लगे हाथ हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि खड़ी बोली की उत्पत्ति

के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे प्रायः भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली व्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह व्रजभाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसीके से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारांत रूप पाए जाते जो शौरसेनी प्राकृत से व्रजभाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारांत घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारांत रूप अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं। हेमचंद्र ने 'स्यादौ दीर्घह्रस्वौ' सूत्र से इनकी सिद्धि बतलाकर कई विभक्तियों में आकारांत रूपों के उदाहरण दिए हैं। जैसे—

अपभ्रंश—ढोला सामला धण चंपावण्णी

ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।

निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु॥

हिंदी—दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,

दूल्हा, मैं तोहि वरज्यौ मत कर दीरघ मान।

नींदै गँवैहो रतिया चटपट होइ विहान॥

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचंद्र ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पंजाबी में आकारांत रूप मिलने के कारण यह संभवना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारांत रूपों पर फारसी के 'हे' से अंत होनेवाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। दूसरे खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रजभाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि व्रजभाषा तथा अवधी में

साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगा है। पूर्व-काल में खड़ी बोली केवल बोल-चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्होंने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि खड़ी बोली का सबसे पुराना नमूना जो अब तक मिला है वह नामदेव की कविता में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह अंश क्षेपक और जाली है पर इस कथन को यदि हम वितंडावाद के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। अस्तु, नामदेव को छोड़ भी दिया जाय तो हमें खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो मिलता है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नामः में, जिसमें मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ और देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुई। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा

नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो, और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिकबारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थी। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं है, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी-अरबी में परस्पर अदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई है। विक्रम की १४वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है, जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन? ना सखि कुत्ता॥
स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागे प्यारी॥
जो मानुष इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

रहीम खानखाना ने भी खड़ी बोली में कविता की है। उनका मदनाष्टक खड़ी बोली का बड़ा मधुर उदाहरण है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥

कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

हिंदू कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

१. अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।
२. खुदा की कसम खाई है।
३. अफज़ल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबड़ाता है।
मानुष गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबा करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क, रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

सीतल कवि १७८० ने खड़ी बोली में बड़ी ही सुंदर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अंग अंग में व्याप रही है। देखिए—

हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर बिधि ने यह फरफंद किया।
चंपकदल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ॥
ऐसे में ग्रहन समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी अँग उछलै नट का बटा हुआ॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार कम से कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। सच बात तो यह है कि खड़ी बोली को काव्यभाषा का स्थान कभी नहीं मिला था। यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी। हरिश्चंद्र ने भी उसमें बहुत कविता नहीं की है। काव्य की परंपरा के लिये ढली चली आती हुई ब्रजभाषा के सामने उसका काव्य के लिये स्वीकृत होना बहुत कम संभव था, क्योंकि खड़ी बोली में मधुरता का अभाव था। पर रहीम ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि संस्कृत वृत्तों का अनुसरण करने से खड़ी बोली की कविता में मिठास लाई जा सकती है। यही बात पीछे चलकर फारसी के वृत्तों के संबंध में हरिऔधजी की रचनाओं से प्रमाणित हुई। वर्तमान युग में मराठी के संसर्ग से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फिर से इसी बात का अनुभव प्राप्त किया और उनके दिखाए हुए मार्ग पर चलकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा कई और कवियों ने अच्छी सफलता प्राप्त की। पर इसका एक बुरा परिणाम यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि खड़ी बोली की कविता एक प्रकार से संस्कृतमयी हो गई है। केवल कोई संयोजक शब्द, कोई विभक्ति या कोई क्रिया जो यहाँ वहाँ मिल जाती है, इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देती है कि यह कविता संस्कृत की नहीं हिंदी की है। उदाहरण के लिये पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह पंक्ति—

"मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि"

अथवा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का यह पद्य देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी
श्रीराधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी॥

आनंद की बात है कि अब धीरे धीरे खड़ी बोली की कविता की भाषा सरल गद्य की सी हो रही है जो समय की प्रवृत्ति के अनुकूल तथा भाषा कविता के भविष्य का द्योतक है।

हिंदी

अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष-रूप से हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी बोली की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभकाल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी-अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रंगे थे, उनको परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिंदू अपने-अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो, मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी-

बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजी लाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है, खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानो हैं। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।"

यद्यपि गुलेरीजी का यह निष्कर्ष कि खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर हुआ तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए, परंतु उनका यह कहना कि "उर्दू रचना में फारसी-अरबी तत्सम या तद्भव निकालकर संस्कृत तत्सम या तद्भव रखकर हिंदी बना ली गई" ठीक नहीं है। उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडा के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले भी मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका

था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी व्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निःसंकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्यभाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाकर और खड़ी बोली को अरब तथा फारस की वेषभूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिंदी की विभाषा है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्यभाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई। हिंदू कवियों ने जो मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली बुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा में मूलतः भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अतः उन्होंने उसके लिये उनके द्वारा अपनाई गई खड़ी बोली का प्रयोग किया, और विशेष आत्मीयता-बोधन करने के लिये हिंदू पात्रों की भाषा व्रज या अपने प्रदेश की रखी।

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसंगात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने चंद छंद बरनन की महिमा खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—"इतना सुनके पातशाहजी श्रीअकबरशाहजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना हो गया, रास बचना पूरन भया।" गंग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्यलेख न

मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए[1]। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं है। उनके और पहले का मुंशी सदासुख (सुखसागर) का लिखा हुआ हिंदी गद्य वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिए राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाए, और किसी से सहायता न मांगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर इंशाउल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदलमिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेम-सागर में भिन्न-भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदलमिश्र में यह बात नहीं है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसीलिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर

---

१ जटमल की लिखी गोरा बादल की कथा भी हिंदी गद्य का पुराना नमूना मानी जाती थी, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि वह जटमल की लिखी नहीं है और उसका रचनाकाल १८०० ई० के लगभग है।

उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित गोरा बादल की कथा भी इस समय की रचना जान पड़ती है। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी खड़ी बोली का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उर्दू

हम पहले कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्धपान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़ प्यार से यह अपने मूलरूप को भूलकर अपने पृष्ठपोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। इसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी, पर वास्तव में यह अपनी जन्मदात्री को भूलकर तथा अरबी-फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत-रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी फारसी के शब्दों का अधिकता से

प्रयोग हो रहा है, और वह भी तद्भव रूप में नहीं, अपितु तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं, जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा होता है, और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफत करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है, जैसे, सितारेहिंद, दफ्तरे फ़ौजदारी, मालिके मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे अज़खुद, अज़तरफ़। अधिकरण कारक को विभक्ति 'में' के स्थान में भी 'दर' का प्रयोग होता है, जैसे–दर असल, दर हक़ीकत। कहीं कहीं 'दर' के स्थान में अरबी 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है, जैसे–फ़िलहाल, फ़िलहक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया, उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी-कभी कर्त्ता के पहले भी रख देते हैं, जैसे— "राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि "उसने एक नौकर से पूछा" यह कहेंगे "एक नौकर से उसने पूछा।"

हिंदुस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों

भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी-व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को यह रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यत्-बाणी करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा ब्रजभाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे-धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदुस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, किंतु अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी। भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब-जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब-तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया, और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

ब्रजभाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का व्याकरणिक तारतम्य

हम यह देख चुके हैं कि हिंदी की तीन प्रधान उपभाषाएँ हैं, अर्थात् अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली। राजस्थानी और बुँदेलखंडी ब्रजभाषा के तथा उर्दू

खड़ी बोली के निकटतम हैं। इन तीनों उपभाषाओं के व्याकरणिक तारतम्य का कुछ विवेचन नीचे दिया जाता है।

व्याकरण: खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में ब्रजभाषा में भी 'ने' चिह्न होता है, चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—'जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण' (जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित पति से)। इसी के अनुसार सकर्मक भूतकाल क्रिया के लिंग-वचन भी कर्म के अनुसार होते हैं। पर अन्य पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया के लिंग-वचन बदलते हैं। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारक-चिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं, जैसे घोड़ा और सखी का ब्रजभाषा में बहुवचन घोड़े और सखियाँ होगा पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा, केवल कारक चिह्न लगने पर घोड़न और सखिन हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर ज़बाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुंजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे—मूली कैसे दोगी। वह बोली—एक मूली का क्या दाम बताऊँ? उन्होंने कहा—"एक ही नहीं, और लूँगा।" कुंजड़िन बोली—"तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङंत ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है, पर व्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है, जैसे आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान व्रजभाषा को भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक के सर्वनाम व्रज में ओकारांत होते हैं, जैसे—घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूत-कालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं, जैसे—आवनो, आयबो, करनो, देनो इत्यादि। पर अवधी का लघ्वंत पदों की ओर कुछ झुकाव है, जिससे लिंग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़ इत्यादि विशेषण, आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार सर्वनाम और केर, कन, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ, कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। अवधी में साधारण क्रिया के रूप भी लघ्वंत ही होते हैं, जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं, पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं, जैसे—ठाढ़, बैठ, आय, गय। उ०—बैठ हैं=बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी।—जायसी।

(ख) पाट बैठि रह किए सिंगारु।—जायसी।

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है।

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा।—तुलसी।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।—तुलसी।

दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष ब्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इसके अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है, वहाँ ब्रज में संधि हो जाती है। जैसे अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिं नारि पियारि जिमि—तुलसी), नियाव इत्यादि ब्रजभाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याहो, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण ब्रज को प्रिय नहीं है, जैसे, पूरबी—दुआर, कुवाँर। ब्रज—द्वार, क्वाँरा। 'इ' और 'उ' के स्थान पर 'यह' और 'व' की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ [(१) इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। (२) उहाँ दशावन सचिव हकारे।—तुलसी] के ब्रज रूप यहाँ वहाँ और हियाँ हुवाँ के ह्याँ ह्वाँ होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है। जैसे—अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै आदि न कहकर ब्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै, जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और ब्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व'कार के पहले रह गया, जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं। जैसे—गैया, कन्हैया, भैया, कौवा, हौवा इत्यादि में। 'और', 'ऐसा', 'भैंस' आदि का उच्चारण पश्चिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में अउर, अइस, भइँस से मिलता जुलता होगा।

ब्रज के उच्चारण के ढँग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता-जुलता करते हैं। माहिं, नाहिं, याहि, वाहि, जाहि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है, इससे इनका उच्चारण मायँ, नायँ, याय, वाय, जाय के ऐसा होता है। 'आवैंगे' 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है, पर लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंध कारक के सर्वनाम में मिलता है। जैसे, किसका=सं० कस्य=प्रा० पुं० किस्स+कारक चिह्न का। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे—'कहिकाँ' पुराना रूप 'केहि कहँ', 'केहि कर'; यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों, जैसे—मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और ब्रजभाषा में हैं। जैसे—पुराने रूप 'रामहिं', 'बनहिं', 'घरहिं'; नए रूप, 'रामै',' बनै', 'घरै' (अर्थात् राम को, वन को, घर को), अवधी या पूरबी—"घरे"=घर में।

हिंदी की तीनों बोलियों खड़ी, ब्रज और अवधी में व्यक्ति

वाचक सर्वनाम कारक चिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं। ब्रजभाषा में अवधी का सा विकार होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी बोली	अवधी	ब्रज
मैं-तू-वह	मैं-तैं-वह, सो, ऊ	मैं-तू या तैं-वह-सो
मुझ-तुझ-उस	मो-तो वा ता-ओ	मो-तो वा ता

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। ब्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप 'ने' लगने पर 'मैं' ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। ब्रज में एकवचन उत्तम पुरुष 'हौं' भी आता है जिसमें कोई कारक चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्त्ता कारक में होता है, पर केशव ने कर्म में भी किया है। यथा—"पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।"

इस प्रकार हिंदी की तीन मुख्य भाषाएँ, ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का विवेचन समाप्त होता है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा ओकार बहुला, अवधी एकार बहुला और खड़ी बोली आकार बहुला भाषा है।

आठवाँ अध्याय

भारतीय लिपियों का विकास

भारतीय भाषाओं के विकास के साथ लिपियों के विकास का प्रश्न भी प्रासंगिक है। भारतवर्ष में लिपि या लेखन क उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई, यह भारतीयों का अपना आविष्कार है या विदेशी अनुकृति है, लेखक के आरंभिक साधन क्या थे और लिपि कला का विकास किससे हुआ आदि अनेक प्रश्न उठते हैं जिनका ठीक ठीक निर्णय हो जाना आवश्यक है। अब तक इस संबंध में किए गए अनुसंधान अधूरे हैं; वे कब तक पूरे होंगे, पूरे होंगे भी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हमारे लिए उचित है कि इस विषय की आज तक की खोज का परिचय प्राप्त कर लें और इस समस्या के सभी पहलुओं को समझ लें, ताकि इसके समाधान में यथासंभव योग दे सकें। वास्तव में लिपि का प्रश्न अब तक एक समस्या या पहली ही बना हुआ है।

लेखन की उत्पत्ति

इस प्रश्न पर सम्यक रूप से विचार करने में दो बातें विशेषतः बाधक हो रही है। एक तो हमारे बीच फैली हुई यह धारणा कि लिपि अनादि है, वह स्वयं ब्रह्माजी की बनाई है और सृष्टि के आरंभ से ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसी धारणा के परिणाम स्वरूप इसी से मिलता जुलता हमारा यह विश्वास है कि लिपि तंत्रशास्त्र का विषय है जो स्वयं अनादि है और जिसका प्रणयन

पौराणिक धारणा

मनुष्य द्वारा नहीं हुआ। इस धारणा और विश्वास के स्वरूप, उसके तथ्यातथ्य और फलाफल पर भली भाँति विचार करने की आवश्यकता है।

हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रश्न लिपियों का है अतः हम उसी की बात कहेंगे। भारतीय लिपि की उत्पत्ति के संबंध में अधिकतर विदेशी विद्वानों का मत अब तक यही रहा है कि भारत में लिपि की उत्पत्ति अधिक प्राचीन नहीं। वैदिक काल में उसका परिज्ञान भारतीयों को न था। भारत की दोनों प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी प्रथम बार अशोक के शिलालेखों में मिलती हैं जिनका समय ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी था। अतः ये लिपियाँ इस समय के कुछ ही पूर्व, चौथी या पाँचवी शताब्दी ई० पू० को आविर्भूत हुई होंगी। और ये लिपियाँ स्वतंत्र नहीं हैं। ये दोनों ही विदेशी लिपियों की अनुकृति हैं। सेमेटिक लिपियों की वंशज हैं। भरतीयों ने एशिया के पश्चिम खंड के फिनिशियन लोगों से लिखना सीखा।

विदेशी अनुसंधान

आरंभ में ही हम कह देना चाहते हैं कि भारतीय लिपि को विदेशी सिद्ध करने और उसकी प्राचीनता को अमान्य करने में तो अधिकांश विदेशी विद्वान् एकमत हैं किन्तु भारत की आदिम ब्राह्मी लिपि किस विदेशी लिपि की अनुकृति है, और किस समय के आसपास यह अनुकरण हुआ, इन तात्विक प्रश्नों पर किन्हीं भी दो विद्वानों का मत नहीं मिलता। इन दोनों आरोपों की संदिग्धता इतने से ही परिलक्षित हो जाती है।

विदेशी मतों की परीक्षा

उदाहरणार्थ कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति हिअरेटिक

(मिस्र की), कुछ क्युनिफार्म (असीरिया की) कुछ फिनिशियन अथवा उसकी हिमिअरेटिक शाखा से, कुछ अरमइक, और कुछ खरोष्ठी लिपि से मानते हैं। आइजक टेलर का मत है कि इनमें से कोई भी लिपि ब्राह्मी से नहीं मिलती, अतः उसकी उत्पत्ति किसी अज्ञात लिपि से हुई होगी जिसका अब तक पता नहीं चला। संभवतः वह ओमन, हँड्रमांट या ओर्मज़ के खंडहरों की किसी विलुप्त लिपि की संतान है। राइस डेविस इस मत को भी प्रामाणिकता नहीं देता, उसका कथन है कि यूफ्रेटिस नदी के तराई की किसी प्राचीन लिपि से ब्राह्मी लिपि का आविर्भाव हुआ होगा।

इसी प्रकार समय के संबंध में भी अत्यधिक मतवैभिन्य है। जहाँ एक ओर बर्नेल आदि अनेक विद्वान् अशोक के कुछ ही पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रचलित होना ठहराते हैं वहीं प्रसिद्ध विदेशी अनुसंधानक वेबर लिखता है कि संभवतः भारतीयों ने सेमेटिक अक्षरों के आधार पर ब्राह्मी की सृष्टि ईसवी पूर्व १००० के आसपास की होगी।

इन मत-मतान्तरों के आधार पर भारतीय लिपि की उत्पत्ति के संबंध में कोई प्रामाणिक निष्कर्ष निकालना अत्यंत कठिन है। फिर जब हम उन तर्कों या प्रमाणों की ओर ध्यान देते हैं जिनके आधार पर ये स्थापनाएँ की गई हैं तब इनकी प्रामाणिकता और भी डाँवाँडोल हो जाती है, और हम मौन साध कर रह जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसी युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं जिन पर किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता, जो एकदम भ्रान्त हैं।

उदाहरण के लिए ब्राह्मी लिपि की सेमेटिक उत्पत्ति का एक

मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि आरंभ में ब्राह्मी लिपि भी सेमेटिक लिपियों की ही भाँति दाहिने से बाएँ लिखी जाती थीं और कुछ समय पश्चात् वह दाहिनी ओर से बाँई लिखी जाने लगी। इसका एकमात्र मुख्य प्रमाण एरण का सिक्का है जिसमें ब्राह्मी अक्षर दाहिनी ओर से बाँई ओर को पढ़े जाते हैं। किन्तु यह तो स्पष्टतः सिक्के की मुहर खुदाई की गलती है, जैसा कि भारतीय सिक्कों में अनेक बार पाई गई है। मुहर बनाने में अक्षरों को उल्टे क्रम से लिखना भूल जाने पर यह त्रुटि प्रायः रह जाती है। भारतीय ही नहीं विदेशी सिक्कों में भी प्राचीन ही नहीं नवीन सिक्कों में भी, यह स्वाभाविक त्रुटि अनेक बार पाई गई है।

ब्राह्मी लिपि

बूलर ने ब्राह्मी लिपि को विदेशी सेमेटिक लिपि की अनुकृति बताते हुए जो पुस्तक लिखी है, उसे देखने पर प्रकट होता है कि उनके तर्क, योजनाएँ और युक्तियाँ एकदम संदेहास्पद हैं और प्रामाणिकता से बहुत दूर हैं। वेबर और बूलर पहले यह निष्कर्ष बना लेते हैं कि ब्राह्मी लिपि विदेशी अनुकरण है, फिर उसे सिद्ध करने के लिए तर्कों की योजना करते हैं। ऐसा करने में उनसे अन्याय की ही आशा की जा सकती है। बूलर ने फिनीशयन अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए दो मोटी बातों का ध्यान नहीं रक्खा। एक तो उन्होंने समान उच्चारणवाले अक्षरों का आधार न रख कर असमान उच्चारणवाले अक्षरों को भी अनुकरण का मूल मान लिया है, जो संभव नहीं है, अथवा अत्यंत संदिग्ध है। अनुकरण समान उच्चारण के आधार पर ही हो सकता है, अन्य किसी आधार पर नहीं और फिर उसने इन दोनों लिपियों के इस मौलिक भेद का ध्यान नहीं रक्खा कि सेमेटिक अक्षरों का ऊपरी भाग मोटा और नीचे का भाग

महीन या नुकीला होता है किन्तु ब्राह्मी लिपि के अक्षर ठीक इसके विपरीत गुणवाले होते हैं।

दूसरी बात यह है कि उसने दोनों लिपियों को तुलना करते हुए मूल फिनिशियन अक्षरों को प्रत्येक प्रकार से उलटा-पलटा है, उनके मूल रूप में नहीं रक्खा। जब अनुकृति ही करनी थी तो अक्षरों का स्वरूप बदलने की क्या आवश्यकता पड़ी थी।

तीसरी बात यह है कि बूलर केवल ब्राह्मी लिपि को ही नहीं खरोष्ठी को भी फिनिशियन का अनुकरण मानता है। ऐसी अवस्था में ब्राह्मी और खरोष्ठी के बीच जो समानता होनी चाहिए वह क्यों नहीं पाई जाती। अशोक के शिलालेखों में दोनों ही लिपियों का व्यवहार हुआ है, किन्तु दोनों में जमीन आसमान का अंतर है।

इन सब तर्कों के बाद जब हम यह देखते हैं कि ब्राह्मी अक्षरों की संख्या फिनिशियन या किसी भी सेमेटिक लिपि के अक्षरों की संख्या से कहीं अधिक है, और उनको सजाने की—क्रमबद्ध करने की—परिपाटी भी स्वतंत्र हैं, वे ध्वनि पर आधारित हैं और वे वर्णमूलक हैं, चित्रमूलक नहीं। इस लिपि में मात्राएँ स्वतंत्र होती हैं और अक्षरों के साथ लगती हैं। मात्राओं के ह्रस्व और दीर्घ आदि भेद भी होते हैं जो अन्य लिपियों में नहीं पाये जाते। तब आपसे आप यह प्रश्न होता है कि भारतीय जब अपने अक्षरों का इतना स्वतंत्र विकास कर सकते थे, तो उन्हें कुछ थोड़े से विदेशी अक्षरों की अनुकृति करने में क्या लाभ दिखा था।

ब्राह्मी अक्षर

सारांश यह कि ब्राह्मी लिपि को विदेशी सिद्ध करनेवालों के तर्क सब तरह से अपूर्ण और संदिग्ध हैं तथा कहीं भी विश्वास

नहीं उत्पन्न करते। यदि ऐसे तर्कों का आधार लिया जाय तो संसार के किसी भी भूभाग में प्रचलित किसी भी प्राचीन या नवीन लिपि को किसी अन्य भूभाग में प्रचलित लिपि की अनुकृति बताया जा सकता है, किन्तु ऐसा करना औचित्य और प्रमाण के सर्वथा विरुद्ध होगा।

भारत में लेखन का प्राचीन प्रचलन

नवीनतम अनुसंधान, जो महँजोदारो और हरप्पा में हुए हैं, भारत में लिपि की अत्यंत प्राचीनता ई० पू० २०००:४००० वर्ष पूर्व का परिचय देते हैं किन्तु उक्त लिपियों की खोज के परिणाम का अब तक निर्णय नहीं हुआ। अतः उक्त आधार की चर्चा नहीं की जायगी। उसे छोड़कर अन्य साक्षियों का विचार करते हुए हमें यह देखना है कि भारतवर्ष में लेखन का प्रचलन किस समय से आरंभ हुआ। इस संबंध में सबसे पहली बात यह ध्यान देने की है कि इस देश में लिखने के साधन प्रचुर मात्रा में तथा अनेक प्रकार के पाए जाते थे, यथा—तालपत्र, भूर्जपत्र और रूई या कपड़े के बने कागज। लेखनी (वर्णक) के लिए भी यहाँ कई वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था और अक्षर कोरने के लिए शलाकाएँ भी काम में आती थीं। कई रंगों की रोशनाई बनाई जाती थी। कागज को चिकना करने के लिए हाथी-दाँत, शंख आदि का व्यवहार होता था।

प्राचीन ग्रंथ लिपिबद्ध न मिलने के कारण

मिस्र देश में जहाँ दो हजार वर्ष ईसवी पूर्व के लिखे अक्षर प्राप्त होते हैं, वहाँ भारत में इतने पुराने ग्रंथों का न मिलना एक आकस्मिक बात है। इसका मुख्य कारण भारत की उष्ण जलवायु हैं जिसमें

लेखाधार नष्ट हो जाते हैं, टिकाऊ नहीं होते। दूसरा मुख्य कारण ऐतिहासिक है। विदेशी आक्रमणों के कारण यहाँ की बहुत सी प्राचीन सामग्री नष्ट भ्रष्ट और विलुप्त हो गई है।

लेखन की वेदकालीन उत्पत्ति

तथापि इस बात में संदेह नहीं है कि भारतीय वेद इस देश के ही नहीं संसार भर के आदि ग्रंथ हैं और इतना विशाल वैदिक साहित्य बिना लिपिबद्ध हुए स्थिर नहीं रह सकता था। यद्यपि वेदों के श्रुति नाम के आधार पर यह कहा जाता है कि वेदों का लेखन नहीं हुआ था, वे एक कंठ से दूसरे कंठ में मौखिक रूप से चले आ रहे थे और प्राचीन लिखित ग्रंथ का अनादर करने की परिपाटी भी पूर्वकाल से अब तक प्रचलित है किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि लेखन की अपेक्षा कंठस्थ करने की परिपाटी अधिक महत्व-पूर्ण मानी जाती थी। स्वयं बूलर लिखता है कि यह अनुमान अकाट्य है कि वैदिक काल में भी लिखित ग्रंथों का उपयोग शिक्षा तथा अन्य कार्यों में हुआ करता था। बोधलिंग नामक विद्वान का मत है कि साहित्य के प्रचार के लिए नहीं, किन्तु नए ग्रंथों के प्रणयन के लिए, लिपि का उपयोग किया जाता था।

वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथ मिलकर वृहत् आकार धारण करते हैं, जो बिना लिपिबद्ध हुए केवल मौखिक आधार पर, नहीं रह सकते थे। पद्य और गीत ही नहीं, गद्य अवतरणों का बिना लिखे प्रचलन होना असंभव सा रहता है। ऐसी अवस्था में वैदिक गद्य, लेख रूप में अवश्य आया होगा। वैदिक छंदों की परिगणना की गई थी, यह कार्य भी लेखन सापेक्ष्य है। वेदों में लिंग और वचन आदि के भेदों का उल्लेख है, जिससे वैदिक व्याकरण का भी आभास मिलता है।

व्याकरण का लिपिबद्ध होना अनिवार्य है। पारिभाषिक शब्दों की चर्चा बिना लिखित आधार के नहीं हो सकती।

वेदों में संख्याओं की भी यथेष्ट परिगणना है। यजुर्वेद संहिता में गणक का उल्लेख है जिसका अर्थ गणित करने वाला ज्योतिषी होता है। उसमें दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य अन्त और परार्ध तक की संख्याएँ मानी गई हैं जो क्रमशः दस से दस खर्ब तक होती हैं। इन संख्याओं का ज्ञान पढ़े-लिखे व्यक्तियों को ही हो सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक आर्यों को पढ़ना-लिखना आता था और वे अक्षरों से ही नहीं अंकों से भी संभवतः परिचित थे।

संख्या और अंक

वैदिक काल के पश्चात् बौद्ध काल में तो लेखन कार्य व्यवस्थित रूप से प्रचलित हो गया होगा। विनय-पिटक में, जो महात्मा बुद्ध के समय या उसके कुछ ही पश्चात् की कृति है, लेख अथवा लेखन कला की प्रशंसा की गई है। जातक ग्रंथों में पोत्थक-पुस्तक का तथा राजकीय-पत्रों, व्यक्तिगत-पत्रों, ऋण-पत्रों आदि का उल्लेख किया गया है।

बौद्ध काल के उल्लेख

पाणिनि के व्याकरण के पूर्व यास्क का निरुक्त लिखा गया जिसमें अनेकानेक पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख है यथा औदुंबरायण, क्रौष्टुकी, शाकपूर्णि, शाकटायन आदि। पाणिनि में इनमें से गार्ग्य, शाकटायन, गालव और शाकल्य के नाम मिलते हैं। यह संभव नहीं कि इन पूर्ववर्ती वैयाकरणों की रचना अलिखित रही हो क्योंकि उनके मतों का हवाला मौखिक आधार पर कोई कैसे दे सकता है।

महाभारत, स्मृति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र और कात्यायन-कामसूत्र आदि ग्रंथों में लेखन कार्य की स्थान स्थान पर चर्चा है।

यूनानी निआर्कस जो प्रसिद्ध सम्राट् अलक्षेन्द्र (अलेकजेंडर) का सेनापति था और भारतवर्ष आया था, कहता है कि रूई को कूट कूट कर कागज बनाना और उस पर लिखना भारतवासी भली भाँति जानते हैं। मेगस्थनीज ने धर्मशालाओं तथा दूरी का पता बताने वाले पाषाणों का उल्लेख किया है तथा जन्मपत्र और पंचांगों के उपयोग की बात लिखी है और यह भी लिखा है कि न्याय स्मृति के अनुसार होता है। निश्चय ही यह स्मृतियाँ लिखित ग्रंथ के रूप में रही होंगी।

परवर्ती प्रमाण

ईसवी पूर्व पाँचवी शताब्दी के आसपास में ब्राह्मी अक्षरों में लिखे शिलालेख अजमेर के निकट बड़ली और नेपाल की तराई के पिप्रावा ग्राम में पाए गए हैं। इस समय तक इस लिपि का परिपूर्ण विकास हो चुका था।

अशोक के शिलालेखों में यह लिपि सर्वदेशीय बन चुकी थी और इसमें स्थानीय भेद भी आने लगे थे जो लिपि को विकसित अवस्था के द्योतक हैं।

पुराणों में उल्लेख है कि पुस्तक लिख कर दान करना पुण्य का कार्य है। चीनी यात्री हुएन्-त्सांग बीस घोड़ों पर ६५७ पुस्तकें लाद कर भारत से चीन लौटा था। निश्चय ही ये पुस्तकें उसे गृहस्थों, भिक्षुओं, राजाओं और मठाधीशों से दान में मिली होंगी। इससे सूचित होता है कि पुस्तक लेखन की प्रचुरता भारतवर्ष में उसी समय हो चुकी थी, जब विदेशों में वह विरलता से प्राप्त थी।

उपर्युक्त साक्षी को ध्यान में रखते हुए हम विश्वासपूर्वक कह

ब्राह्मी लिपि संबंधी निष्कर्ष

सकते हैं कि भारत की ब्राह्मी लिपि एक स्वतंत्र लिपि है। इसका प्रादुर्भाव वैदिक काल में ही भारतीय आर्यों द्वारा हुआ था। हम जहाँ एक ओर यह मानने को तैयार नहीं है कि ब्रह्माजी ने अपने हाथ ब्राह्मी लिपि का निर्माण सृष्टि के आदि में किया, वहाँ हम यह भी नहीं स्वीकार कर सकते कि यह लिपि हमने विदेशियों से सीखी और इसका प्रचलन उस समय हुआ जब पश्चिमी एशिया और मिस्र में लेखन कार्य एक सहस्र वर्ष या उससे भी अधिक काल से चल रहा था।

तंत्र-ग्रंथों में देव नागर वर्णमाला का जो विवरण मिलता है उसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हमारी वर्णमाला अनादि है, हमें तंत्र-ग्रंथों के निर्माण के समय की खोज करनी चाहिए, तब हम देवनागरी लिपि के संबंध में अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

खरोष्ठी लिपि

जहाँ तक खरोष्ठी लिपि का संबंध है, यह भी अशोक काल के पूर्व भारतवर्ष में प्रचलित हो चुकी थी। यह सेमेटिक लिपियों की शैली पर अवश्य चली थी किन्तु इसका भी स्वतंत्र विकास भारतभूमि में हुआ था। इसका प्रसार भारत के बाहर दूर दूर तक था और यूनानी सिक्कों में भी इस लिपि का प्रचलन देखा जाता है। खरोष्ठी लिपि विदेशियों के भारतवासियों से संसर्ग होने पर बनी। यह भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त से लेकर सुदूर ईरान तक फैली थी। यह व्यापारियों और अहल्कारों की लिपि थी। उस समय भारत का व्यापार उत्तर-पश्चिमी मार्ग से बहुत अधिक हुआ करता था। इस लिपि में ब्राह्मी लिपि की भाँति स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व दीर्घ का भेद न था।

और संयुक्ताक्षर भी बहुत कम व्यवहृत होते थे। यह लिपि ब्राह्मी लिपि की भाँति वैज्ञानिक न बन पाई। यद्यपि यह व्यवहार में बराबर आती रही और ईसा की तीसरी शताब्दी तक इसका प्रचलन पंजाब आदि भारत के पश्चिमी प्रांतों में था। तत्पश्चात् यह धीरे-धीरे लुप्त हो गई और इसका स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया।

देवनागरी तथा अन्य लिपियाँ

भारत की वर्तमान सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की ही वंशजा हैं। यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि इतने बड़े देश में सुदूर दक्षिण की लिपियाँ उत्तर की दूरस्थ लिपियों की सहोदरा भगिनी हों किन्तु लिपि-वेत्ताओं ने इस संबंध में शंका के लिए कोई स्थान नहीं रक्खा है। ब्राह्मी लिपि की दो प्रधान शाखाएँ मानी जाती हैं—एक उत्तरी शाखा और दूसरी दक्षिणी शाखा। समस्त भारत की वर्तमान लिपियाँ उर्दू को छोड़कर इन्हीं दोनों शाखाओं के अंतर्गत आती हैं।

नवाँ अध्याय

प्रागैतिहासिक खोज

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि जाति और भाषा का प्रायः घनिष्ठ संबंध स्थापित किया जाता है, परंतु वास्तव में कोई विशेष भाषा किसी विशेष जाति की संपत्ति नहीं होती। जिस प्रकार मनुष्यमात्र धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन और कला कौशल की उन्नति करके उसे अपनी विशिष्ट संपत्ति बना लेता है, उसी प्रकार भाषा पर भी अधिकार किया जाता है। जिस प्रकार स्थिति के अधीन होकर धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के आदर्शों तथा कला कौशल के उद्देश्यों का विनिमय होता है, उसी प्रकार भाषा का भी विनिमय होता है। यदि सुयोग मिले तो हर एक मनुष्य प्रत्येक भाषा सीख सकता है, चाहे वह उसके पूर्वजों की भाषा हो, चाहे विदेशियों की। इसी प्रकार मनुष्यों का कोई विशिष्ट समाज भी इस भाषा संपत्ति का अर्जन कर सकता है। जिस प्रकार किसी विशिष्ट समाज में भिन्न-भिन्न जातियों या वंशों के लोग सम्मिलित हो जाते हैं, एक ही भाषा बोलने लगते हैं और दूसरी भाषा का नाम तक नहीं जानते, उसी प्रकार बड़े-बड़े समाजों में भी भिन्न-भिन्न लोग संमिलित होकर अपनी-अपनी जातीय भाषा भूलकर उसी समाज में प्रचलित भाषा को ग्रहण कर लेते हैं। भारतवर्ष में पारसी या मुसलमान समुदाय के लोग

भाषा और जाति

इसके बड़े अच्छे उदाहरण हैं। पारसी लोग गुजरात में बस जाने के कारण अपने पूर्व-पुरुषों की भाषा छोड़कर गुजराती भाषा का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार पंजाब या बंगाल में बसे हुए मुसलमान पंजाबी या बँगला भाषाओं का प्रयोग करते हैं। हूण और सीदियन लोगों ने प्राचीन समय में भारतवर्ष पर अनेक आक्रमण किए थे। जिस समय वे यहाँ आए थे, उस समय वे अपने पूर्वजों की भाषा बोलते थे। पर यहाँ बस जाने पर अब वे भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न जातियों में दूध-चीनी की भाँति मिल गए हैं, और जिस प्रकार उनके हूणत्व या सीदियनत्व का अब कहीं चिन्ह भी नहीं देख पड़ता, उसी प्रकार उनकी भाषाओं का भी कहीं पता ठिकाना नहीं है। जाति और भाषा का सम्मिश्रण साथ-साथ होता है और दोनों क्रमशः एक दूसरी पर अवलंबित रहती हैं, परंतु दोनों के मिश्रण की मात्रा एक सी नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा भौगोलिक स्थितियों के कारण उनके मिश्रण की मात्रा में भी भेद रहता है। अतएव किसी जाति की भाषा को उस जाति का अनिवार्य या सहज चिन्ह नहीं मान सकते।

हम पहले लिख चुके हैं कि भिन्न-भिन्न भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनकी शाब्दिक तथा व्याकरणिक समानता के

आर्यों का आदिम निवासस्थान

आधार पर हम भाषाओं के वर्ग स्थिर करते हैं। ऐसे वर्गों में भारोपीय, सेमेटिक, हेमेटिक, यूराल-अल्ताई, द्राविड़, एकाक्षर, काकेशस, बांतू आदि मुख्य वर्ग हैं। इन सबका साधारण वर्णन पीछे दिया जा चुका है। यहाँ पर हम भारोपीय-वर्ग की आर्य-शाखा के संबंध में ही कुछ कहेंगे। हम यह भी देख चुके हैं कि आर्य भाषाओं में किस प्रकार शब्दों और भावों

में समानता है। उनकी परस्पर तुलना करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि वे सब भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। यह सिद्धांत मान लेने पर हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल-भाषा से किस प्रकार और क्यों इतनी उप-भाषाएँ हो गईं। इसका समाधान यही बात मान लेने से होता है कि आरंभ में उस मूल-भाषा के बोलनेवाले किसी एक स्थान में रहते थे और वहाँ से वे भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैल गए। वे अपनी मूल-भाषा अपने साथ लेते गए और भिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के कारण उस मूल भाषा में क्रमशः परिवर्तन होता गया और अंत में उन्होंने अपना-अपना अलग रूप धारण कर लिया। सारांश यह है कि आरंभ में एकता थी। समय पाकर आपस में भेद पड़ गया और साधारणतः अलग स्थिति हो गई। पर भाषा-विज्ञान ने इस अलग स्थिति की दीवार को तोड़कर आपस की प्रारंभिक एकता का रूप प्रत्यक्ष दिखा दिया है। हमारा संबंध आर्य भाषाओं से है, अतएव हमें यही जानना है कि आर्य भाषाओं की मूल-भाषा बोलनेवाले कौन लोग थे, वे कहाँ रहते थे, उनमें आपस में क्यों वियोग हुआ और उनकी भाषा की इस समय कितनी मुख्य-मुख्य शाखाएँ हैं।

आर्य जाति का मूल निवासस्थान कहाँ था? इस प्रश्न पर सबसे प्रथम प्रकाश डालने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर को है। मैक्समूलर ने इस प्रश्न पर विद्वत्तापूर्वक विचार करके मध्य एशियाई सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि सर्वप्रथम आर्य लोग मध्य एशिया में निवास करते थे और कालांतर में वहीं से पूर्व तथा पश्चिम की ओर फैले। मैक्समूलर के पश्चात् अन्य विद्वानों का ध्यान भी इधर आकर्षित हुआ। आर्यों के मूल-निवास-स्थान के विषय में भिन्न

भिन्न मत प्रचलित हुए। डा० लैथन ने आर्यों को स्कैंडिनेविया का मूल निवासी बतलाया, एवं अन्य विद्वानों ने बाल्टिक सागर के दक्षिण पूर्व तट[1], जर्मनी के विभिन्न भाग तथा यूरोप के भिन्न भिन्न प्रांतों को आर्यों का संभाव्य वासस्थान निर्दिष्ट किया। सबसे अधिक मान्य सिद्धांत डाक्टर श्रेडर का है जिन्होंने वाल्गा नदी के मुहाने की भूमि (Lower course of the Volga) को आर्यों का मूल निवास स्थान बतलाया है। अभी थोड़े ही दिन हुए डा० पोटर गाइल्स ने 'कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' के प्रथम भाग में इस प्रश्न पर विचार किया है। बहुत यत्न के बाद उन्होंने हंगरी प्रांत में कारपेथियन पर्वत के आसपास के वृत्ताकार स्थान को आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट किया है। भारतीय विद्वान् सर देसाई ने बाल्कश झील के पार्श्ववर्ती स्थान को आर्यों का मूल निवासस्थान बतलाया है। उनके मत की पुष्टि के लिये एक प्रबल प्रमाण यह है कि आज भी उक्त स्थान पर सप्त-सिंधु अथवा सात नदियों का देश नामक एक प्रांत है। कुछ ही दिन पूर्व हिट्टाइट के जो शिलालेख मिले हैं उनमें वैदिक देव-ताओं का उल्लेख देखकर बहुत से विद्वान् मेसोपोटामिया को आर्यों का मूलस्थान मानने के पक्ष में हैं। दिवंगत लोकमान्य तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्कटिक् होम इन् दी वेदाज़' में अनेक बाह्य एवं आभ्यंतर प्रमाणों के आधार पर आर्यों को उत्तरी ध्रुव के समीप का निवासी सिद्ध किया है। तिलक जी की युक्ति का आधार कौल का हिम-युग सिद्धांत था जिसका खंडन

---

१ इसका कारण यह है कि उस प्रांत में बोली जानेवाली आर्यभाषा लिथुआनियन में प्राचीनता के चिन्ह अन्य आर्यभाषियों की अपेक्षा अधिक मिलते हैं।

हो चुका है। परंतु हिम-युग सिद्धांत का खंडन होने पर भी तिलकजी के मत में कोई बाधा नहीं पड़ती। उनका कहना केवल इतना ही है कि अंतिम हिम-युग का समय मानवजाति के स्मृतिकाल में ही था, जिसे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

अब हम इन विभिन्न मतों की संक्षिप्त समीक्षा कर लेना आवश्यक समझते हैं। सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आर्यजाति के आदिम निवासस्थान के विचार में राष्ट्रीय भाव भी उपस्थित होकर बहुत कुछ बाधा उत्पन्न कर देते हैं। समस्त यूरोप के लोग आर्यों का मूल निवासस्थान अपने महाद्वीप में निर्दिष्ट करने का यत्न करते हैं। एशिया से यूरोपीय जातियों के पूर्वपुरुष गए, यहीं उनकी भाषा का जन्म हुआ, यहीं की सभ्यता के आधार पर उनकी सभ्यता का प्रासाद खड़ा हुआ, ये सब बातें यूरोपियनों के राष्ट्रीय भावों में उनके जातीय अभिमान में बट्टा लगाती हैं। इतना ही नहीं, यूरोप के भिन्न भिन्न देशों के लोग भी अपने देश में ही आर्यों के आदिम स्थान की कल्पना करने का यत्न करते हैं। कोई कोई विद्वान् जिस भाषा के पंडित होते हैं अथवा जिस भाषा से उनका घनिष्ठ संबंध होता है, उसी भाषा से प्राचीनता के चिन्ह ढूँढ़ने का अधिक यत्न करते हैं और उस भाषा के बोले जानेवाले स्थान को ही आदिम आर्य-निवासस्थान ठहराते हैं। निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर बहुत कम विद्वानों ने विचार किया है। ऊपर डा० लैथन का उल्लेख हो चुका है। उन्होंने स्कैंडिनेविया को आदिम आर्य निवास माना है। इसका स्पष्ट कारण है। डाक्टर साहब स्कैंडिनेवियन भाषाओं के विद्वान् और अध्यापक हैं। इसीसे उन्हें स्कैंडिनेविया के अतिरिक्त और कोई स्थान ही न मिला जो आर्यों का मूल निवास माना जाता।

एक भारतीय विद्वान् ने उक्त डाक्टर साहब से इस विषय में प्रश्न भी किए थे और हर्ष की बात है कि डाक्टर महोदय ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट करने में वे पक्षपात से मुक्त न थे। इसी प्रकार प्रोफेसर श्रेडर भी स्लाह्विक भाषाओं के अध्यापक हैं और यही कारण है कि वाल्गा नदी के आस पास ही उन्हें मूल आर्यनिवास के चिह्न मिले।

इस विषय में एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि आर्यों का मूल निवासस्थान निर्दिष्ट करने में वृक्षों और प्राणियों के नामों तथा सांसारिक उन्नति के पदार्थों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। भिन्न भिन्न भाषाओं के व्याकरणों में परस्पर कितना संबंध है, इस पर आवश्यकता से कम ध्यान दिया गया है, और वास्तव में इस विषय में भाषाओं के परस्पर संबंध का महत्व बहुत अधिक है। विद्वानों को चाहिए कि भारोपीय वर्ग की भिन्न भिन्न भाषाओं की परस्पर तुलना करके इस बात का पता लगावें कि कौन कौन सी भाषाएँ कब तक एक दूसरी से संबद्ध रही हैं, किस भाषा का किसी विशेष भाषा से अथवा अपनी समकक्ष अन्य भाषाओं से कब विच्छेद हुआ। इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन सचमुच ही आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट करने में सहायक होगा।

इस संबंध में तीसरी बात जिस पर कम ध्यान दिया गया है यह है कि जिस समय आर्यों का परस्पर विच्छेद नहीं हुआ था और वे एक ही स्थान में रहते थे, उस समय संसार की भौगोलिक स्थिति वही नहीं थी जो आज है। आज से कम से कम दस सहस्र वर्ष पूर्व एशिया और यूरोप के महाद्वीपों की भौगोलिक स्थिति में आज की अपेक्षा यदि अधिक नहीं तो कुछ अंतर

अवश्य रहा होगा। महाद्वीपों और महासागरों की स्थिति तो बहुत कुछ वैसी ही रही होगी जैसी आज है, पर किसी विशेष 'स्थान की प्राकृतिक दशा आज से बहुत भिन्न रही होगी। जलवायु में भी यथेष्ट परिवर्तन हो गया होगा। मनुष्य के जीवन पर जलवायु का प्रभाव बड़ा महत्त्वशाली होता है, सिद्धांतरूप से तो सभी विद्वान् इन सब बातों का मूल्य स्वीकार करते हैं। पर व्यवहार में लाते समय वे इसके महत्त्व को भूल जाते हैं। अतएव अवश्यकता इस बात की है कि ऊपर जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उनका पूरा पूरा ध्यान रखते हुए यदि विद्वत्समाज आर्यों के आदिम स्थान का पता लगावे तो उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी। भिन्न भिन्न विद्वानों ने जिन जिन स्थानों को आर्यों का मूल निवासस्थान बतलाया है, बहुत संभव है कि गृहत्याग करने के पश्चात् आर्यों की यात्रा में वे भिन्न भिन्न अस्थायी निवासस्थान अथवा कुछ समय तक आर्य जाति के केंद्र रहे हों। इस संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है, और लोकमान्य तिलक ने भी संकेत किया है कि वेंदीदाद (अवेस्ता का एक अंश) के प्रथम अध्याय में जिन स्थानों की गणना की गई है, संभवतः वे उत्तर ध्रुव से ईरान तक की यात्रा के मार्ग में क्रम से भिन्न भिन्न विश्राम स्थल रहे हैं। वेंदीदाद में मूल आर्य निवास का जिस प्रकार का वर्णन है उसे देखकर लोकमान्य तिलक के सिद्धांत की पुष्टि होती है और आर्यों के उत्तर-ध्रुव-वासी होने की कल्पना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ती है। इस सिद्धांत के मान लेने पर मैक्स-मूलर आदि विद्वानों के (जिनका यह कहना है कि आर्य लोग मध्य एशिया के वासी थे) मत में भी कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उत्तरी ध्रुव से चलकर ही मध्य एशिया से आर्य आ सकते हैं। प्रसिद्ध भारतीय इतिहासज्ञ अविनाशचंद्र दास ने आर्यों का

आदिम निवास स्थान सप्तसिंधु में माना है। बहुत से अन्य विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। भाषाविज्ञान की सहायता से भी कुछ विद्वानों ने आर्यों को सप्तसिंधु का मूल निवासी ठहराया है पर अभी तक इस मत को भी सब विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार नहीं कर लिया है। जो हो, अभी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्यों का मूल निवासस्थान कहाँ था। हाँ, इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि एशिया के मध्य भाग में ही आर्यों का परस्पर विच्छेद हुआ और उनकी एक शाखा पश्चिम में यूरोप की ओर गई तथा दूसरी शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर ईरान तथा भारतवर्ष में आई।

आर्यों की पश्चिमी शाखा

ऐसा जान पड़ता है कि मध्य एशिया से आर्यों के दो दल हो गए थे। एक दल पूर्व-दक्षिण की ओर गया और दूसरा पश्चिम की ओर। जो दल पश्चिम की ओर गया, वह कैस्पियन समुद्र तक तो अविभक्त रहा, पर वहाँ उसकी अनेक शाखाएँ हो गईं और समय समय पर अनेक शाखाएँ भिन्न भिन्न दिशाओं में गईं और नई नई जातियों, भाषाओं, राज्यों तथा सभ्यताओं का विकास करने में समर्थ हुईं। क्रमशः ये समस्त यूरोप में फैल गईं। पहले एक शाखा जिसे केल्ट कहते हैं, डैन्यूब नदी के किनारे तक गई। इसके अनंतर ट्यूटन शाखा भी वहीं पहुँची। उसने केल्ट शाखा के लोगों को खदेड़ कर पश्चिम की ओर आगे बढ़ा दिया और आप वहाँ बस गई। तीसरी शाखा स्लेयोनियन ने रूस की ओर प्रस्थान किया और वहाँ से क्रमशः इलीरिया, पोलैंड और बोहीमिया में फैल गई। चौथी शाखा ने यूनान और पाँचवीं शाखा ने दक्षिण की ओर इटली में जाकर अपना डेरा जमाया।

जो दल दक्षिण-पूर्व की ओर गया, वह पहले पहल आक्सस और जरकीज़ नदियों के किनारे जा बसा। अतएव हम कह सकते हैं कि उनका पहला निवासस्थान खीवा का शाद्वल था। वहाँ से उन नदियों के किनारे किनारे उद्गमों की ओर बढ़ते बढ़ते वे खोकंद और बदख्शाँ की ऊँची भूमि में आ बसे। यहाँ तक वे मिले जुले रहे, उनमें कोई भेदभाव नहीं हुआ। पर यहाँ से उनके भी दो दल हो गए, एक फारस की ओर चला गया और दूसरा काबुल नदी की उपत्यका में से होता हुआ भारतवर्ष में आ बसा। जो लोग फारस की ओर गए उनकी भाषा में क्रम-क्रम से परिवर्तन होता गया और अंत में वह ईरानी भाषा के नाम से प्रख्यात हुई। जो दल भारतवर्ष में आया, उसकी भाषा का नाम संस्कृत हुआ। आर्यों की इस शाखा, उनकी भाषा-संस्कृत और उससे उत्पन्न अन्यान्य भारतीय भाषाओं के संबंध में पिछले प्रकरणों में कहा गया है, अतः यहाँ हम उनके संबंध में थोड़ी-सी मुख्य बातों ही का उद्धरण करके इस विषय को समाप्त करते हैं।

आर्यों की दूसरी शाखा

अब पहला प्रश्न जो हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, यह है कि आर्यों का अपने मूल निवासस्थान में क्यों विच्छेद हुआ और उनके दल पूर्व और पश्चिम की ओर क्यों गए। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उत्तर की ओर से मंगोल जाति के लोगों ने उन्हें खदेड़ना और सताना आरंभ कर दिया था। इससे घबरा कर उनके दल पूर्व और पश्चिम की ओर निकल गए थे। साथ ही यह भी संभव है कि उनके आदिम निवासस्थान के जलवायु में परिवर्तन हो गया हो और वहाँ वर्षा कम होने लग गई हो

आर्यों का विच्छेद

जिससे अपने पशुओं के साथ उनका वहाँ रहना कठिन हो गया हो। यह भी संभव है कि उनकी संख्या इतनी बढ़ गई हो कि सबका वहाँ बसना कठिन हो गया हो, अथवा आपस में लड़ाई झगड़े के कारण ही विच्छेद हो गया हो। उस समय का कोई इतिहास न मिलने के कारण केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। अतएव, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐतिहासिक और भौगोलिक हेतुओं से अथवा गृहकलह के कारण आर्य लोग नवीन स्थानों की खोज में निकले थे।

आर्यों की भाषाएँ

इस प्रकार हमने देख लिया कि आर्यों की पूर्वी शाखा से संस्कृत और ईरानी का संबंध है और पश्चिमी शाखा से आरमीनियन, यूनानी, आलबैनियन, इटैलियन, केल्टिक, जर्मन, स्लेहानिक और तुखारियन भाषाओं का संबंध है। इनमें से तुखारियन भाषा का पता इस शताब्दी के आरंभ में (१६०३-५) लगा है। महाभारत में भी तुखार जाति का उल्लेख है और यूनानियों के प्राचीन ग्रंथों में भी उसका वर्णन मिलता है।

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या था, इसका पता लगाना बहुत कठिन है। उस प्राचीन भाषा की कोई पुस्तक या लेख आदि नहीं मिलते। आर्य जाति की सबसे प्राचीन पुस्तक जो इस समय प्राप्त है, ऋग्वेद है। इसकी ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न समयों और भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई है। ध्यानपूर्वक देखने पर मंत्रों की भाषा में विभेद देख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में जब आर्य सप्तसिंधु प्रदेश में थे, तभी उनकी बोलचाल की भाषा ने कुछ कुछ साहित्यिक रूप धारण कर लिया था, पर तो भी उसके अनेक भेद बने रहे। वेदों के संपादन काल में मंत्रों का भाषा-विभेद बहुत कुछ दूर किया गया।

तिसपर भी यह स्पष्ट है कि वेदों की भाषा पर उस समय की कुछ प्रांतीय अथवा देशभाषाओं का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। ज्यों-ज्यों आर्यगण अपने आदिम स्थान से फैलने लगे और तत्कालीन आचार्यों से संपर्क बढ़ाने लगे, त्यों-त्यों भाषा भी विशुद्ध न रह कर मिश्रित होने लगी। विभिन्न स्थानों के आर्य-विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। कोई कोई 'क्षुद्रक' कहता था तो कोई 'क्षुल्लक'; युवं, युवां और वां तीनों प्रकार के प्रयोग होते थे। एक 'ड' भिन्न-भिन्न स्थानों में ल, ळ, ढ, ळह सभी बोला जाता था, इस प्रकार जब विषमता उत्पन्न हुई और एक स्थल के आर्यों को अन्य-स्थल के अधिवासी अपने ही सजातीयों की बोली समझने में कठिनाई होने लगी तब उन लोगों ने अपनी भाषा में व्यवस्था करने का उद्योग किया। प्रांतीयता का मोह छोड़ कर सार्वदेशिक सर्वबोध्य और अधिक प्रचलित शब्द ही टकसाली माने गए। भाषा प्रादेशिक से राष्ट्रीय बन गई। अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग बंद हुआ। कम-से-कम साहित्यिक और सार्वजनिक व्यवहारों में सभी लोग टकसाली भाषा का प्रयोग करने लगे। इसलिये भाषा भी मँज-सँवर कर संस्कृत (=शुद्ध) हो गई। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। वेदों की भाषा कुछ-कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत बन गई। वैयाकरणों ने नियमों से जकड़ कर संस्कृत को अमर तो बना दिया पर वह अमरता उसके लिये भार हो गई। उसका प्रवाह रुक गया और साधारण बोलचाल की भाषा न रह

जाने के कारण वह केवल साहित्य और धर्मग्रन्थों की भाषा हो गई। इधर बोलचाल की भाषा का प्रवाह स्वच्छंद गति से चलता रहा। अनार्यों के संपर्क का सहारा पाकर प्रांतीय बोलियों का विकास हुआ। इन प्रांतीय बोलियों में स्वच्छंदता बहुत थी। वैदिक भाषा के समान ही वे भी स्थिर और अपरिवर्तन-शील न थीं। अतएव अपनी प्रकृत-स्वच्छंदता के कारण ही वे 'प्राकृत' कहलाईं। इस बात की पुष्टि में बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई है, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं।[1]

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जनसाधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण-ग्रंथों तथा सूत्र-ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोल-चाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ। वह भी बनी रही। पर इस समय उसके प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो हमें इस समय प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में है। उसी को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य होते हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी। इनमें से महाराष्ट्री सबसे प्रधान मानी गई है। महाराष्ट्री एक प्रकार से उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी। इसलिये यहाँ राष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का

---

१ दे० हिंदी भाषा का संक्षिप्त इतिहास; पृ० ३, ६, ८।

बोधक भी माना जा सकता है। शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत है और शूरसेन-देश (आधुनिक ब्रजमंडल) में इसका प्रचार होने के कारण यह शौरसेनी कहलाई। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था। अर्धमागधी मागधी और शौरसेनी के बीच के प्रदेश की भाषा थी पर इसमें अन्य भाषाओं का भी मिश्रण था। शुद्ध मागधी न होने के कारण ही इसका नाम अर्धमागधी था।

क्रमशः इन प्राकृतों ने भी संस्कृत की भाँति साहित्यिक रूप धारण किया और बोलचाल की भाषा इनसे भिन्न हो चली। यह बोल चाल की भाषा अब 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित होने लगी। विद्वानों का अनुमान है कि भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न प्रकार की अपभ्रंश बोली जाती थी। जब इस अपभ्रंश में भी काव्यों की रचना होने लगी, तब आधुनिक देशभाषाओं का विकास आरंभ हुआ। जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषाओं में कविता होती थी। प्राकृत भाषा के अंतिम वैयाकरण हेमचंद्र ने, जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे, अपने व्याकरण में अपभ्रंशों के नमूने दिए हैं। जान पड़ता है कि उसी समय से अथवा उससे कुछ पूर्व से अपभ्रंशों में से संयोगात्मकता जाती रही थी और वियोगात्मकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। इन्हीं अपभ्रंशों से आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म और विकास हुआ।

आर्य भाषाओं की पूर्वी शाखा की दूसरी प्रधान भाषा ईरानी है। हम पहले कह चुके हैं कि आर्यों की पूर्वी शाखा में आरंभ में कोई भेद नहीं था। बदख्शाँ और खोकंद की ऊँची भूमि तक वे साथ-साथ आए थे। वहाँ से एक दल फारस की

ओर चला गया। उस दल की प्राचीन भाषा का नाम मीड़ी या मीरी मिलता है। इस भाषा की दो शाखाएँ हुईं—एक के उदाहरण तो हमें पारसियों के आदिम धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा में मिलते हैं और दूसरी के उदाहरण दारा के शिलालेखों में हैं। दारा के शिलालेखों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसे पुरानी ईरानी भी कहते हैं। इससे क्रमशः पह्लवी भाषा का विकास हुआ जिसमें एसेनियन वंश के राजाओं के लेख तथा अवेस्ता का भाष्य लिखा मिलता है। इस पह्लवी से क्रमशः वर्तमान फारसी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ईरानी भाषा के तीन रूप हुए—प्राचीन ईरानी या अवेस्ता की भाषा, पह्लवी और फारसी।

आदिम आर्यों की सभ्यता

आर्य वंश की भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने एक और बड़ा काम किया है। जब आर्यों के आदिम स्थान के विषय में खोज होने लगी और विद्वानों ने भिन्न भिन्न स्थानों को आर्यों का मूल निवास-स्थान बतलाया तब स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वे किस प्रकार जीवन-निर्वाह करते थे, उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन कैसी थी, अर्थात् यह पता लगाया जाने लगा कि उनकी सभ्यता किस कोटि की थी। उनका कोई पुराना इतिहास तो था ही नहीं जिसके आधार पर इस जिज्ञासा की तृप्ति हो सकती। विद्वानों ने यह जानने का उद्योग किया कि आर्य-वंश की भिन्न भिन्न भाषाओं में किन-किन पदार्थों आदि के लिये एक से शब्द हैं। क्रमशः इनका संग्रह किया गया और इनके आधार पर यह सिद्धांत स्थिर किया गया कि जब एक ही पदार्थ के सूचक एक ही प्रकार के शब्द भिन्न भिन्न आर्य भाषाओं में हैं तब वह पदार्थ आदिम आर्यों को

अवश्य विदित होगा। इस प्रकार उन आर्यों की सभ्यता का एक इतिहास प्रस्तुत किया गया। इस कार्य में पुरातत्व ने भी सहायता दी। पुरातत्व-वेत्ताओं ने पुरानी वस्तुओं की खोज से जो प्राचीन इतिहास उपस्थित किया था, उसका भाषा-विज्ञान द्वारा उपलब्ध इतिहास से मिलान किया गया, और जब दोनों एक ही सिद्धांत पर पहुँचे, तब यह मान लिया गया कि इस सिद्धांत के ठीक होने में कोई संदेह नहीं है। पर एक बात यहाँ ध्यान में रख लेना आवश्यक है। पुरातत्व प्राप्त पदार्थों के आधार पर अपने सिद्धांत स्थिर करता है, अतएव वह भौतिक सभ्यता के जानने में तो हमारा सहायक हो सकता है, पर उस आदिम जाति की मानसिक उन्नति या विकास के जानने में किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता। यहाँ भाषा-विज्ञान ही हमारा एक मात्र सहायक है और उसी की कृपा से हम इसका इतिहास उपस्थित करने में समर्थ होते हैं।

इन आधारों पर हम आदिम आर्य जाति के इतिहास को निम्न लिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं:—(१) गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन, (२) वास, (३) पेय पदार्थ, (४) व्यवसाय और व्यापार, (५) समय का विभाग, (६) वंश, (७) जाति और (८) दंड-विधान तथा धर्म।

पालतू पशुओं में गधे, खच्चर और बिल्ली को छोड़ कर उष्ट्र-गो, शूकर, अवि और अश्व के लिये प्रायः समान शब्द मिलते हैं। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पशुओं को आर्य लोग पालते थे। संस्कृत के गवेषण और गविष्ठि शब्दों से, जिनका अर्थ वेदों में 'संपत्ति की खोज' लिया जाता है, यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पशुओं

गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन

को आर्य लोग संपत्ति समझते थे और उनकी वंश-वृद्धि की ओर ध्यान देते थे। प्राचीन समय में यौतुक और दक्षिणा के रूप में भी गौएँ दी जाती थीं। उस समय आजीविका का मूल पशु या उनसे उत्पन्न पदार्थ ही थे। गवाशिर और गव्य शब्द यह भाव प्रदर्शित करते हैं कि दूध या दूध से बने हुए पदार्थ भोजन के लिये काम में लाए जाते थे। मांस और मज्जा के समवाची शब्द भी यह बतलाते हैं कि ये पदार्थ भी काम में आते थे। पच, चरु, उखा आदि शब्द भोजन पकाने आदि के सूचक हैं। सारांश यह कि प्राचीन आर्य पशुओं का पालन करते थे, उनसे उत्पन्न पदार्थों का उपयोग करते थे, उनके चमड़े और ऊन से अपना शरीर ढकते थे, और भोजन पकाना जानते थे। खेती के लिये आवश्यक वस्तुओं, जैसे बीज, हल और पेड़ों तथा अनाजों आदि के नाम दोनों शाखाओं में प्रायः अलग अलग हैं जिससे यह अनुमान होता है कि खेती करना उन्होंने पीछे से और अलग अलग सीखा। शिकार करना वे जानते थे। जंगली जानवरों जैसे वृक, ऋक्षि, उद्र आदि के लिये भी प्रायः समान शब्द मिलते हैं।

वास

जन, विश, पूः, दम, द्वार, स्थूल, आदि शब्द यह बात सिद्ध करते हैं कि ये लोग छोटे छोटे गाँवों में रहते थे, मकान बनाते थे, उनमें दर्वाजे लगाते थे और उनको छाते थे।

पेय पदार्थ

मधु और उनके समवाची मृदु, मेथू, मेटू, मोड शब्द यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन समय में यह पेय पदार्थ था। यह कोई मीठा पदार्थ रहा होगा। सोम के लिये अवेस्ता की भाषा में 'हाओम' शब्द मिलता है, परन्तु अभी इसके संबंध में यह निश्चय नहीं हो सका है कि यह कौन पौधा था।

व्यापार का स्वरूप पदार्थों का विनिमय था। जहाँ यह नहीं हो सकता था, वहाँ मूल्य में गौएँ दी जाती थीं। व्यापार प्रायः बाहर के लोग करते थे जिनसे घृणा की जाती थी। पदार्थों के तौलने-नापने आदि का भी विधान था। लोहा, ताँबा आदि धातुएँ भी ज्ञात थीं। कपड़ा बुनना, सीना और तीर बनाना भी उन्हें आता था। मिट्टी, लोहे आदि के बर्तन बनाना भी वे जानते थे। तक्षण शब्द बड़ा पुराना है, जिससे कह सकते हैं कि बढ़ई का व्यवसाय भी उस समय होता था। गिनती गिनना भी वे जानते थे।

व्यवसाय और व्यापार

वर्ष तथा ऋतुओं में हेमंत, समा (गर्मी), शरद आदि का आर्यों को ज्ञान था। महीनों तथा दिन-रात (दाघ, नक्त) के विभागों से भी वे परिचित थे।

समय का विभाग

भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करने के लिये आर्यों की दोनों शाखाओं में एक से शब्द हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि अति प्राचीन काल में वे संबंध स्थापित कर चुके थे। लड़की के लिये प्राचीन संस्कृत शब्द 'दुहिता' है जिसकी उत्पत्ति कुछ लोगों ने 'दुह' धातु से मानी है, और उससे यह सिद्धांत निकाला है कि उसका काम गौएँ दुहने का था, जिससे उसका यह नाम पड़ा। निरुक्त में इस शब्द की उत्पत्ति यह मानी गई है कि जो दुःख से, कष्ट से, हरण की जा सके। इस व्युत्पत्ति में विवाह की प्रथा का प्राचीन इतिहास मिला हुआ है। 'वधू' और 'वहतु' शब्द भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थन करते हैं। पति, पत्नी और दंपति के भावसूचक शब्द भी इसी प्रकार का पारस्परिक संबंध प्रकट करते हैं।

वंश

साधारण लोगों के लिये प्राचीन 'जन' शब्द मिलता है जिसका साम्य लैटिन Genit, अँगरेजी Generic आदि में देख पड़ता है। जनों के समुदाय के लिये विश्

जाति आदि

शब्द का प्रयोग होता था और उनके नायक विश्वपति कहलाते थे। यदि अनेक विश् मिल-कर एक हो जाते थे, तो उनका नायक राजा कहलाता था। इसका चुनाव सभा (गॉथिक सिब्जा, जर्मन सिप्पे) या समिति में होता था। (देखो ऋ० १०, १२४-८-विशो न राजानं वृणानाः। ऋ० ६, ६२-६—राजा न सत्यः समितीरियानः)। अतएव इनकी शासन-पद्धति भी थी, यह इससे स्पष्ट सिद्ध होता है।

किसी के प्राण ले लेने पर घातक को प्राणदंड मिलता था। कभी कभी वह जुर्माना देकर भी इस दंड से बच जाता था।

दंड-विधान

वैर, वीर आदि शब्दों की व्युत्पत्ति से भी इस प्रकार के दंड का आभास मिलता है। ईश्वर और आत्मा में विश्वास तथा अग्नि, वरुण, इंद्र आदि की पूजा का विधान भी पाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आर्यों में बहुत बातों में समानता थी। भिन्न भिन्न स्थानों में बसने, भिन्न भिन्न जलवायु में पालित-पोषित होने तथा प्रकृति की भिन्न भिन्न स्थितियों में पड़ जाने के कारण आर्यों की भिन्न भिन्न जातियों ने अपनी अपनी सभ्यता का अलग अलग विकास किया। पर इनका मूल एक ही जान पड़ता है और भाषा-विज्ञान इस प्राचीन इतिहास के लुप्तप्राय पृष्ठ खोलकर हमारे संमुख उपस्थित करता है।